Issue 11
April 2022
www.rgfindia.org

RAJIV GANDHI FOUNDATION

Sadbhavana
DIGEST

Image Courtesy: Uploaded by Sonati on Pinterest

Sadbhavana Digest

Issue #11, April 2022

Contents

Editorial.....1

Amritras- Ek Sameeksha by Dr. Balram Shukl.....3

Sadbhavana with self.....8

‘Jaati na poocho sadhu ki’ by Mr. Rajneesh Bisht 9

“One Water in Many Vessels” Kabir in Popular Music (Excerpts) by Vivek Virani.....15

Sadbhavana with others.....21

Ṣūfī Altruism by Richard McGregor.....22

‘Isakrang’ by Ms. Shaheen.....29

Amir Khusro ka Rashtriya Chintan by Dr. Jang Bahadur Chaturvedi.....33

Seven Ṣūfī brothers- Dargah vernacular narratives and Konkani Ṣūfī-Muslims (Excerpts) by Deepra Dandekar.....38

Sadbhavana with Nature.....49

Depiction of Nature in Kabir’s Poetry by Dr. Priti Tripathi.....50

‘Barahmasa’ by Malik Muhammad Jayasi.....53

Ecological Ṣūfīsm concepts in the thought of Seyyed Hossein Nasr by Ahmad Sururi.....60

Benares Series Kabirdas | A creative Puppet Theater Production.....67

Benares Series Ravidas | A creative Puppet Theater Production.....67

Ṣūfī-Saints series Zoom Sessions links.....68

Editorial

Celebrating the 75th year of Independence, we at the Rajiv Gandhi Foundation, started a journey of exploring the various aspects of what formulates this country. This took us in several directions, from science to craft, environment to journalism, and literature to performance. Our extremely talented bunch of artists from Wonderoom participated very actively in this endeavour, and with guidance from Mr. Rajneesh Bisht and Mr. Anshu Malviya, presented a beautiful series on the history, philosophy, and artistic practices of various Ṣūfīs from South-Asia. This series encouraged us to look at Sadbhavana from the perspective of Ṣūfīsm, which has resulted into this Issue of our monthly digest.

Edited by several members of our team together, and featuring contributions from various sources, this Issue truly embodies the spirit of togetherness that Ṣūfīsm often advocates. Encouraged by the response to our previous Issues, we have tried to balance between academic writing as well as articles that are more accessible to readers of different age groups and from different backgrounds. As an editorial choice - in order to ensure that the length of this Issue doesn't overwhelm the reader - we have taken the liberty to extract some relevant sections from lengthier essays here. Such choices have been explained via Editor's Notes throughout this Issue. However, we do encourage the readers to study the complete texts in order to get better insight into the topics being discussed here. Along with these, a series of very interesting and informative videos enhances the interactive aspect of this Issue. As we often do, we have tried to address the three themes that run across several issues of our Sadbhavana Digest.

1) As the introduction to this Issue, we have Amritras- Ek Sameeksha by Dr. Balram Shukl, where Shukl, a Sanskrit scholar from Delhi University, discusses the syncretic nature of Ṣūfī poetry in detail, picking elements from Sanskrit as well as Persian poetry.

Sadbhavana with Self -

2) 'Jaati na poocho sadhu ki' written especially for this Issue by Mr. Rajneesh Bisht gives us a wonderful overview of various Ṣūfīs, their struggles with certain aspects of the society, as well as a glimpse of their immortal poetry.

3) "One water in many wessels" Kabir in popular music' from FIND THE TRUE COUNTRY: DEVOTIONAL MUSIC AND THE SELF IN INDIA'S NATIONAL CULTURE (unpublished dissertation) by Vivek Virani performs a very important study of contemporary popular culture and the influence of Ṣūfī Philosophy, using Kabir's renditions by musicians Bindhumalini and Vedanth as a case study.

Sadbhavana with Others-

4) Ṣūfī Altruism by Richard McGregor examines the concept of selflessness through human contact in a very engaging way through anecdotes.

5) ‘Isakrang’ – another piece written specifically for this Issue by Ms. Shaheen Shaikh expands on the concept of love and friendship in Ṣūfī Poetry.

6) Amir Khusro ka Rashtriya Chintan by Dr. Jang Bahadur Chaturvedi offers a unique reading of Khusro’s poetry through the lens of Nationhood.

7) In ‘Seven Ṣūfī brothers Dargah vernacular narratives and Konkani Ṣūfī-Muslims’, Deepra Dandeka goes into the concept of brotherhood and religious geography which is essential to discuss something like Ṣūfī movement, which emerged in particular socio-cultural milieu and has adapted accordingly with time in different regions.

Sadbhavana with Nature

8) Depiction of Nature in Kabir’s Poetry by Dr. Priti Tripathi is a unique piece that discusses the environmental conscience in Kabir’s poetry and encourages the reader to learn from it.

9) The ‘Barahmasa’ from Padmavat by Malik Muhammad Jayasi celebrates the tradition of describing nature as an extension of self through (usually) descriptions of Viyoga/Vipralambha Sringar, an often used device in Premmargi Bhakti Poetry.

10) Ecological Ṣūfīsm concepts in the thought of Seyyed Hossein Nasr by Ahmad Sururi and Arqom Kuswanjono connects Ismalic thought and philosophy with Environmental concerns.

These are followed by two beautiful puppet films that we have created in collaboration with Creative Puppet Theatre Trust, Benaras- Sant Raidas and Sant Kabir.

Finally, you will find the links to all the Zoom Sessions that have been organized as part of the Ṣūfī-Saints series so far.

In these difficult times, may the words of these Ṣūfīs give us sanity, may their music bring us together, and may their spirits provide us some much needed peace and healing.

अमृतरस : एक समीक्षा

बलराम शुक्ल
(संस्कृतविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय)

हिन्दुस्तान ने सभ्यता के प्रभात काल से ही विभिन्न पन्थों, मतों, परम्पराओं और वैचारिक पद्धतियों का हृदय से स्वागत किया है। जो भी वस्तु या विचार शुभ है, भद्र है भारत ने उसे हमेशा से आमन्त्रित किया है। ऋग्वेद का ऋषि इसी कामना को "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"[1] (सभी ओर से अच्छे विचार हमारी तरफ आयें) के रूप में व्यक्त करता है। इस प्रवृत्ति ने भारत को जीवन्त, रंगारंग और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध बनाया है। विभिन्न दिशाओं से आयी हुई परम्पराओं को भारत ने आत्मसात् करने के साथ साथ उनपर भी अपने गहरे चिह्न छोड़े हैं। ये पारस्परिक आदान प्रदान की प्रक्रिया वस्तुतः स्वस्थ तथा जीवन्त क़ौमों के लक्षण होते हैं। केवल अपनी छाप छोड़ देने की ज़िद आक्रान्ता होने की दलील है जबकि अपनी प्रकृति को बिल्कुल छोड़कर दूसरे में मह्व (लीन) हो जाना संस्कृति की निर्बलता का द्योतक है। भारतीय संस्कृति ने इन आगत संस्कृतियों का पोषण भी किया तथा साथ साथ खुद पोषित भी हुई। इस परम्परा ने अद्भुत सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि की तथा बड़े बड़े सन्त और सूफ़ी पैदा किये।

इस्लामिक परम्परा भारत में आगत वह परम्परा है जिसका रंग भारतीय जनमानस पर सम्भवतः सबसे चटख और देर तक रहने वाला है। इस्लाम भारत में केवल ग़ाज़ियों के द्वारा नहीं बल्कि सूफ़ियों और सन्तों के माध्यम से भी पहुँचा इसलिये कुछ अंशों में इसे स्वाभाविक स्वीकार्यता भी मिली। इस्लामी परम्परा का भारतीय परम्परा के साथ शीघ्र ही गंगा–जमुनी मिलन हो गया। इस मिलन के सबसे बड़े प्रमाण स्थापत्य, साहित्य तथा कला की अन्य विधायें है। सन्तों ने अपने मूल सिद्धान्तों से भटके बिना साहित्य में एक दूसरे के शब्दों, प्रतीकों, तथा शैलियों को स्थान देकर अपने कथ्य को परिचित तथा स्वीकार्य बनाने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिये कबीर ने अपने योग अथवा वैष्णव सिद्धान्तों में यथास्थान इस्लामिक शब्दावलियों तथा शैलियों का प्रयोग करके सर्वसुलभ बनाया। मलिक मुहम्मद जायसी, मञ्झन और कुतुबन जैसे कवियों ने भारतीय भाषा, शैली तथा प्रतीकों का प्रयोग करके इस्लाम के सिद्धान्तों को समझाने का प्रयास किया।

भारत की इसी समृद्ध आध्यात्मिक तथा साहित्यिक परम्परा में हम हज़रत शाह तुराब अली क़लन्दर की हिन्दी ठुमरियों को पाते हैं। इन गीतों में हर जगह भारतीयता की हृदयावर्जक सुगन्ध है। भारत के मौसम, रीति –रिवाज, त्यौहार तथा देवी देवताओं का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग इसे हिन्दुस्तानी दिलों के बहुत नज़दीक ला रखता है। स्पष्ट होता है कि रचनाकार का मन किस प्रकार भारत की मिट्टी से जुड़ा हुआ और इसकी सतरंगी समृद्ध सभ्यता पर मुग्ध रहा होगा। और इसके साथ साथ हर जगह इस्लामी तौहीद का आधार स्पष्ट है– बसन रँगैहों वाही के रंग में – और रंग सब दैहों बहाय। पूरा आशिक़ वह है जो हर रूप में, हर रंग में और हर जगह अपने महबूब को देख सके। बक़ौल ग़ालिब –जल्लाद से डरते हैं न वाइज़ से झगड़ते। हम समझे हुए हैं उसे, जिस भेस में वो आये। जब तक प्रेम का प्रवाह तीव्रता प्राप्त नहीं करता ज़बान और परम्पराओं के बन्धन टूटकर एकमेक नहीं हो पाते और उनकी असमर्थता ज़ाहिर नहीं हो पाती। महबूब जो कि इदराक की सरहदों से भी परे है उसे किसी एक खास ढाँचे में बाँध कर रखने की ज़िद भोलापन ही है। जब इश्क़ की शिद्दत बढ़ती है तो सारे ढाँचे टूट जाते हैं। सबसे पहले आशिक़ की ख़ुदबीनी और ख़ुदी शिकस्ता होती है। तब वह धन्यवाद के स्वर में कह उठता है – ख़ूब शुद सामाने ख़ुदबीनी शिकस्त। (अच्छा हुआ, यह अपने को देखने की सामग्री यह अहंकार टूट गया) और यह शिकस्तगी ही माशूक़ की नज़रों में महबूब और अज़ीज़ है – कि शिकस्ता हो तो अज़ीज़तर है निगाहे आइनासाज़ में[2] जब ख़ुदी का ढाँचा टूटा तो और कोई भी ढाँचा बरदाश्त नहीं होता और बाद में किसी ढाँचे का टूटना मुज़ायक़े का बाइस नहीं होता। सूफ़ियों का क़ौल है– 'दुनिया की सारी चीज़ें सही और सालिम हालत में अच्छी मानी जाती हैं, सिवाये दिल के जो कि जितना ज़ियादा टूटा हुआ हो, उतना ही मक़बूल (स्पृहणीय) होता है।' क्योंकि दिल का टूटना अहंकार का टूटना है, अपनी सीमाओं का ज्ञान और भान है। बौद्ध दार्शनिक मोक्षाकर गुप्त ने क्या ही अनमोल बात कही है- 'न हि अखण्डितः पण्डितो भवति'[3] (बिना टूटे कोई पण्डित नहीं बनता)

---

[1] ऋग्वेद १–८९–१

[2] इक़बाल।

[3] श्रीमद्भगवद्गीता १६.१

जिनका ईमान मुतज़ल्ज़ल (डावाडोल) होता है उनकी इबादत मशीनी हो जाती है। उसमें रस नहीं रह जाता। सहिष्णुता सूख जाती है। माबूद (उपास्य) को खो देने का, दीन से ख़ारिज हो जाने का डर समा जाता है। वह अपने से ज़ाहिरन अलग लगने वाली चीज़ों को वस्तुतः अलग समझने लगता है। डरा हुआ आदमी प्रेम नहीं कर सकता वह तो दूसरों को भी डराता है। और डरने वालों का महबूब की गली में कोई काम नहीं – उनका तो वहाँ प्रवेश ही निषिद्ध है – बर दरे माशूक़े मा तर्सन्देगान् रा कार नीस्त। फिर असहिष्णुता और तअस्सुब जन्म लेते हैं। जो मानवता की सबसे बड़ी दुश्मनों में से एक है।[5] इसीलिये तो श्रीकृष्ण ने तमाम[4] दैवी सम्पत्तियों में सबसे पहला स्थान अभय को दिया है।[6]

मर्दाने ख़ुदा ज़ाहिरी पिन्दार के पर्दे को हटा पाते हैं[7]। वे ईमान (मुखड़े) के साथ कुफ़्र (ज़ुल्फ़) को भी महबूब का जुज़्व ही समझते हैं क्योंकि उनके नज़दीक ग़ैरे महबूब किसी चीज़ का वजूद ही नहीं होता -ग़ैरे वाहिद हर[9] चे बीनी आन् बुत अस्त[8]। ठौर ठौर तुराब पिया है – जग मा नहीं कोऊ वाके सिवाय। उनका हृदय समन्दर की तरह विशाल होता हैं जिसमें सारी नदियाँ एकमेक हो जाती हैं बिना किसी बाहमी इख्तलाफ़ के। सारी इकाइया एक में विलीन हो जाती हैं - महबूब में।[10]

लेकिन समुद्र में तो नदियों का नाम रूप नहीं जान पड़ता जबकि सन्तों के हृदय में सभी इकाइयाँ अपना अस्तित्व बनाये हुए भी एक रहती हैं। उनकी व्यक्तिगतता पर कोई ख़तरा नहीं रहता फिर भी वे अपने मत वैभिन्न्य को छोड़ देते हैं। ऐसा सिर्फ़ परमेश्वर के अपने लोगों के हृदय में ही दीख पड़ता है।

हज़रत तुराब काकोरवी जब श्रीकृष्ण को अपने पीर या महबूब की शक्ल में पेश कर पाते हैं तो इसमें उनका वही विशाल हृदय और मज़बूत ईमान दीख पड़ता है। जहाँ ज़ाहिद को कुफ़्र दीखता है वहीं शाहिद अपना महबूब ढूँढ लेता है।[11]

श्रीकृष्ण तथा उनसे सम्बद्ध प्रतीकों का प्रयोग उनके काव्य में कृष्णमार्गी वैष्णव कवियों की तरह ही है। और यह महत्त्वपूर्ण विशेषता उन्हें सभी निर्गुण सन्त कवियों, चाहे वे प्रेममार्गी हों या ज्ञानमार्गी , से पृथक् करती है।

हज़रत तुराब काकोरवी फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं में सिद्धहस्त थे तथा इन सबकी काव्य परम्पराओं से सुपरिचित। उनके कलाम फ़ारसी भाषा में भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु उर्दू कवियों के विपरीत अपनी हिन्दी कविता में उन्होंने फ़ारसी जगत् के काव्य प्रतीकों या रूढियों गुलो–बुलबुल, शीरीं–फरहाद आदि का प्रयोग नहीं किया है। उनके यहाँ तो बसन्त है, होरी है, वर्षा है, हिंडोला है, कोयल है, पपिहे की पियु पियु है, दादुर (मेढक) का शोर है और हिन्दुस्तान की अपनी विशेषता – रिश्तों की अहमियत – ननद तोरा बिरना, नन्द के लाला, जसमत के लंगरवा ये सभी प्रचुर मात्रा में हैं। इससे उनका काव्य ठेठ हिन्दुस्तानी सौंधी गन्ध से सुवासित हो गया है ।**और इसी में तुराब की तुराबिय्यत है**।[12] इसी क्रम में दिव्य अथवा लौकिक प्रेम को व्यञ्जित करने के लिये उनके उपमान लैला मजनूँ, शीरीं – फ़रहाद आदि नहीं बल्कि भारतीय रसिक जनों के प्राणभूत राधा– कृष्ण हैं जिनका बहाना लेकर भक्ति तथा रीति काल के हिन्दी कवियों ने अपने भक्ति और शृङ्गार सम्बन्धी उद्गार प्रकट किये हैं।[13] भारतीय जनमानस इनसे एक विशेष प्रकार की निकटता का अनुभव करता है चाहे वह किसी वर्ग या धर्म से सम्बन्धित हो। श्रीकृष्ण का साँवला रङ्ग भारतीय उपमहाद्वीप का प्रतिनिधि रङ्ग है। उनकी सरस बातें, तिरछी चितवन, रंगारंग बानक भारतीय जनसमूह के हृदय में धँस गया है और कवियों का उपजीव्य स्रोत बन चुका है। हज़रत के काव्य में श्रीकृष्ण पूर्णतः रस्य तथा अनुभव कर सकने की सीमा तक वर्णित हुए हैं। यह वर्णन कबीरदास के – "केसौ कहि कहि कूकिये", गुरुग्रन्थसाहब के "साँवर सुन्दर रामैया मोर मन लागा तोहे" तथा कवीन्द्र रवीन्द्र के "एशो श्यामल शुन्दर" की अपेक्षा अधिक सरस, रंगीन तथा अनुभाव्य है। ऊपर उद्धृत काव्य केवल कृष्ण के नाम तथा प्रतीकमात्र का उपयोग करते हैं। इनमें कृष्ण अपने सर्वसामान्य रूप में नहीं आते और निर्गुण ब्रह्म की एक छवि उन पर हावी हो रहती है। वस्तुतः श्रीकृष्ण की छवि इस क़दर रंगीन है कि वे सगुणता की प्रतिमूर्ति ही प्रतीत होते हैं । यही कारण है कि भक्तिकालीन निर्गुण धारा के कवियों में परब्रह्म के प्रतीक के रूप में जितना राम का उपयोग किया गया है उतना कृष्ण का नहीं क्योंकि उन कवियों का लक्ष्य अन्ततः निर्गुण तत्त्व ही था।

---

4 دیوان شمس – رومی بر در معشوق ما ترسندگان را کار نیست -

5 گر تو لاف از عقل و از لب می زنی – پس چرا دم بر تعصب می زنی – عطار نیشابوری – منطق الطیر

6

7 فروغی بستامی - غزلیات - مردان خدا پرده ی پندار دریدند-یعنی همه جا غیر خدا یار ندیدند -

8 غیر واحد هر چی بینی آن بت است– مثنوی معنوی رومی

9 اندر دل مردان خدا دریا ییست- دیوان شمس- رومی

10 چون یکیها محو شد آنک تویی– مثنوی معنوی رومی

11 درآن جایی که بت را دید زاهد- همان جا چشم من الله بین است

12 तुराब – تراب का अर्थ अरबी में मिट्टी होता है ।

13 राधिका कन्हाई के सुमिरन कौ बहानौ है । (भिखारीदास– रीतिकालीन हिन्दी कवि)

इसके विपरीत तुराब के कृष्ण केवल ध्यानगम्य ही नहीं हैं बल्कि अपने पूरे सौन्दर्य के साथ सपार्षद विद्यमान हैं। उनके पास काली कामर (कम्बल), पिछौरी पाग (मोरपंख का मुकुट) है, मोहनी मूरत–सोहनी सूरत है और आँखें रसीली और लाजभरी हैं। वे ढीठ हैं, लंगर हैं। एक बार उनकी नज़र किसी पर लग गयी फिर छोड़ते नहीं। यहाँ जसमत (यशोमती) भी हैं,नन्द भी हैं,राधा – बृषभान किशोरी भी हैं, दूध–दही का बेचना भी है। उनसे रूठना है– जासो चाहें पिया खेलें होरी– मोसे नहीं कछु काम री गुइयाँ; मनाना है, उनके कठोर व्यवहार के लिये उलाहना देना है, उनकी जबरदस्ती के लिये उन्हें गालियाँ देना हैं। उनकी बेवफ़ाई का बखान है – तोरी प्रीत का कौन भरोसा– एक से तोरे एक से जोड़े। सौतिया डाह है – फाग मा भाग खुले सौतन के रीझे हैं उन पर श्याम री गुइयाँ॥ पछतावा है – ऐ दई नाहक पीत करी॥ राधा का विरह में पीला पड़ना है – कान्ह कुँवर के कारण राधा – तन से भई पियरी दुबरी॥ इन पुष्ट तथा सरस सचित्र वर्णनों के कारण तुराब के कृष्ण का निर्गुण ब्रह्म में पर्यवसान बहुत अन्त में हो पाता है।

तुराब के काव्य में कृष्ण के लौकिक तथा पारलौकिक अनेक प्रकार के रंग हैं। वह अधिकतर स्थानों पर पीरे कामिल (परिपूर्ण गुरु) के रूप में प्रकट होकर आये हैं। गुरु, शिष्य के अहंकार की चिरसञ्चित मटकी को फोड़ कर उसकी अन्तरात्मा को प्रेम रस में सराबोर कर डालता है। बिल्कुल वही जो कृष्ण गोपियों के साथ करते हैं। ज़बरदस्ती साधना के फाग में प्रेम का रंग लगाता है। वह अबीर घूँघट खोल कर मलता है। दूध–दही बेचने नहीं देता जैसे गुरु सांसारिक कार्यों से साधक को कुन्द कर देता है –फगवा माँगत रार करत है – कस कोई बेचे दूध दही॥ वह लाज हर लेता है – ताली बजावत धूम मचावत – गाली सुनावत लाज हरत है, बिलकुल मौलाना रूम के साक़ी की तरह – बरख़ीज ऐ साक़ी बिया – ऐ दुश्मने शर्मो हया॥ [14]

अनेक बार कृष्ण को परब्रह्म के प्रतीक के रूप में भी देखा जा सकता है। वह अपना मुख सबसे बचाये रखता है – कुंजुन् मख़फ़ीयुन् (كنج مخفى)[15] की तरह और रसिकों के मुँह पर अबीर मलता है। वह कान्ह कुँवर रूपी ब्रह्म ही है जिसके विरह में राधा रूपी जीवात्मा तन से पीली और दुबली हो जाती है।

इन गीतों में बसन्त शामिल है जो परम प्रिय द्वारा अपने आपको प्रकट करने का प्रतीक है, शाहाना है, जो जीव तथा ब्रह्म के पारस्परिक मिलन के क्षण को प्रकट करता है, मेंहदी है जो प्रिय से मिलन के लिये की जाने वाली साधनाओं को व्यञ्जित करता है तथा अन्त में बाबुल है जो इस भौतिक जगत् को छोडकर परा–भौतिक जगत् की यात्रा का प्रतीक है।

मौलाना जलालुद्दीन रूमी का कौल है कि सालिक (साधक) को या तो तरब नहीं तो तलब इन दो हालतों में से किसी एक में हमेशा रहना चाहिये। अगर महबूब का सुराग मिल गया हो तो तरब अर्थात् उत्सव और अगर महबूब ओझल है तो तलब अर्थात् खोज।[16] हज़रत के हिन्दी कलाम में इन दोनों हालतों की बाँकी झाँकी देखने को मिलती है। फ़िराक़ एक बड़ी दौलत है। जो साधक में विसाल की योग्यता पैदा करता है। सूफियों के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि जुज़्व (अंश) है जो अपने कुल (अंशी) से विरह की हालत में है।[17] विरले लोग इस विरह को जान पाते हैं और फिर उन्हें मिलने की ललक और जुदाई की तड़प घेर लेती है – सपने में आँख पिया संग लागी – चौंक पड़ी फिर सोई न जागी॥ अन्यत्र – बिरह की मारी मैं तो मरी ऐ दई नाहक पीत करी॥ सामान्य जन विरह के इस महत्त्व को नहीं जानते हैं, इसीलिये तो कबीर ने उसके सर्वोपरि स्वरूप की ओर चेताया है– बिरहा बिरहा जिन करौ बिरहा है सुलतान।

हज़रत तुराब काकोरवी के हिन्दी कलाम की शैली संगीतात्मक है, छन्दोबद्ध नहीं। इसी कारण इसकी भाषा भी संगीत के अत्यन्त ही अनुरूप है। सर्वत्र मधुर दृश्यों को प्रस्तुत करने वाले सुन्दर वर्णों वाली कविता का साम्राज्य दिखायी पड़ता है। यद्यपि फ़ारसी लिपि में छपी प्रस्तावना में इनकी कविता की भाषा का नाम ब्रज दिया गया है तथापि इस कविता में अन्य लोकभाषाओं जैसे अवधी, भोजपुरी आदि के शब्द तथा मुहावरे भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उदाहरण के लिये सपरना (सम्पादित होना) क्रिया, चैनवा, रैनवा, नैनवा आदि शब्द, आये अबेर सिधारे सबेरे आदि भोजपुरी प्रवृत्ति के लक्षण हैं। अवधी के अभिलक्षण भी यहाँ हैं, जैसे– मोका, हमका, घर मा आदि। फ़ारसी मूल के शब्दों का विनियोग नहीं के बराबर है ताकि इनका देशी सौन्दर्य बच रहा है – जाने दे मोका तुराब सबर कर – जान लेहौं ईमान न लेहौं ॥

---

14 بر خیز ای ساقی بیا ای دشمن شرم و حیا– دیوان شمس غزل شماره ی 9

15 حدیثنبوی«كنت كنزاً مخفياً فاحببت أن أعرف فخلقت الخلق لكي أعرف»

16 اکر تو یار نداری چرا طلب نکنی؟ - اگر به یار رسیدی چرا طرب نکنی؟؟

17 هر کسی کو دور ماند از اصل خویش – باز جوید روزگار وصل خویش (مثنوی معنوی – دفتر اول – نی نامه)

वस्तुतः हिन्दी के राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने से पहले अधिकतर पूर्व, उत्तर तथा मध्य भारत की काव्यभाषा ब्रजभाषा ही थी। इसके अनेक क्षेत्रीय रूप भी थे। उदाहरण के लिये ब्रजबुली जो बङ्गाल, असम तथा उड़ीसा में प्रचलित ब्रजभाषा का क्षेत्रीय रूप थी। अतः काव्य की खड़ी बोली से अतिरिक्त भाषा को ब्रजभाषा कह देने का प्रचलन आम था। यद्यपि इन कविताओं में ब्रज भाषा के तत्त्व अधिक हैं फिर भी कवि भौगोलिक दृष्टि से चूँकि अवधी तथा भोजपुरी क्षेत्र से सम्बद्ध रहे हैं अतः इन भाषाओं के तत्त्वों का कवितामें आना नितान्त स्वाभाविक है। फ़ारसी में आकण्ठ मग्न होने के कारण हज़रत तुराब के इन देसी पदों में भी कहीं कहीं खाँटी फ़ारसी के शब्द तथा क्रियायें आ गयीं हैं। जैसे – मो अस प्यार सौं दर गुजरी में दर गुजरना मूलतः फ़ारसी क्रिया दर गुजश्तन(در گذشتن) से सीधे आनीत है।

कहीं कहीं तो आश्चर्यजनक रीति से हिन्दी के ये गीत फ़ारसी के तज़मीन (कविता पूर्ति – تضمین) के रूप में आये हैं। ध्यातव्य है कि ऐसे प्रसङ्गों में वे ही फ़ारसी छन्द चुने गये हैं जो संगीतात्मक तथा गेय हों। जैसे – मोरे नैन लागे गुइया केहू और संग काहे–जो तुराब का सजन है मोरा जी वही को चाहे। हमा शह्र पुर जे ख़ूबाँ मनमो ख़याले माहे – चे कुनम कि चश्मे बदबीं नकुनद बे कस निगाहे।[18] दूसरा उदाहरण है – कोऊ हँसत कोउ मुँह देख मोर रोवत है – नई पिरीत सौं प्यारे ये गत हमारी भई। तुराब बहुत बुरी होत है हिया की कसक – मोरे करेजे में छिन छिन उठत है पीर वई॥ दरूने सीने ये मन ज़ख़्मे बे निशाँ ज़द ई – बे हैरतम कि अजब तीरे बे कमाँ ज़द ई॥[19] गहे अब्रे तरो गाहे तरश्शुह गूना गह बाराँ – बिया दर चश्मे मन बिन्गर हवा ए बार्शगाली रा॥[20] हज़रत तुराब की यह पद्धति अमीर खुसरो से मन्सूब शेर ज़ि हाले मिस्कींकी बरबस याद दिला देता है ख़ासकर तब जब वे ख़ुद ख़ुसरो के एक शेर को बतौर तज़मीन प्रस्तुत करते हैं – सुख जो बरसात का किस्मत में न था मोरे बदा। भरी बरखा में वह परदेसी भया मोसे बिदा॥ जग में ऐसा न केहू और पे दुख डाले ख़ुदा। सहूँ मैं कैसे तुराब उसकी जुदाई की अदा ॥ अब्र मी बारदो मन मी शवम अज़् यार जुदा। मन जुदा गिरियाकुनाँ, अब्र जुदा, यार जुदा॥[21]

तुराब के कई पद एसे भी हैं जिनमें हिन्दी भक्ति काव्य की निर्गुण ज्ञानाश्रयी धारा के अभिलक्षण प्राप्त होते हैं जैसे योग साधना तथा गुरु भक्ति इत्यादि जैसे – जोगन हुइ के कैसे न बैठूँ मोका तो है बैराग रे। तथा सब रंग फीके तुराब के आगे। योग साधना का स्पष्ट आभास इस पद में मिलता है – चैन से सोवैं तुराब पिया संग – मूँद के अपने दसों दुअरवा॥[22] इन्द्रियों पर द्वार का आरोप उपनिषद् काल से चला आ रहा है – नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।[23] भोजपुरी क्षेत्रों में ज्ञान सम्बन्धी ऐसे पदों को **निरगुन** के नाम से जाना जाता है। श्रीकृष्ण के लीला वर्णन सम्बन्धी पदों के बीच हज़रत तुराब के कई पद ऐसे हैं जिन पर निरगुन होने का गुमान होता है, जैसे – प्रेम का अक्षर एकौ न जाना –जनम गयौ सब गीत कथा में, औरकैसे मैं लागूँ पिया के गरवा – चुभ चुभ जात गरे का हरवा। गले का हार तक प्रिय के मिलन में बाधक हो जाता है अन्य सांसारिक सम्पत्तियों की तो बात ही क्या। वहाँ तो सब कुछ छोड़कर जाना पड़ता है।[24] ज्ञान ध्यान साहब का भूला – बेंध रहा मन मात पिता में॥ उपर्युक्त पङ्क्ति में साहब शब्द ध्यान देने योग्य है। यह कबीर पन्थ का पारिभाषिक शब्द है जो ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है।[25] इस प्रकार के पदों तथा अन्यत्र भी कई स्थान पर अपने गुरु काज़िम, जो उनके पिता भी थे, का नाम ससम्मान आया है– काज़िम चाहें तो पीत निबाहें – तोसे तुराब न कछु सपरी॥ तथा काज़िम शाह दुहाई तुम्हारी॥ गुरुसामान्य का महत्त्व भी अनेकत्र वर्णित है – जब से दया की मोपर गुरु ने– तब से भयो मेरे बस मा सैंया। तथा गुरु की दया बिन कब निबहूँगी।

निम्नलिखित पङ्क्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं। हरि तो हर कहीं दीख परत है। तथा हर मा रमो है राम री गुइयाँ,इस प्रकार परमेश्वर को हर जगह देख पाना आध्यात्मिक जगत् की सबसे बडी उपलब्धि है। भगवद्गीता के अनुसार –यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥[26] (जो मुझे हर जगह देखता है और मुझमें सब कुछ देख पाता है, मैं उसके लिये और वह मेरे लिये ओझल नहीं होते।)

---

18 همه شهر پر ز خوبان منم و خیال ماهی چه کنم که چشمِ بدبین نکند به کس نگاهی

19 درون سینه ی من زخم بی نشان زده ای – به حیرتم که عجب تیر بی کمان زده ای

20 گهابرتروگاهیترشهگونهگهبارانبیادرچشچمنبنگرهوایبارشگالیرا

21 ابر می بارد و من می شوم از یار جدا – من جدا گریه کنان ابر جدا یار جدا- امیر خسرو

22 तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः। श्रीमद्भगवद्गीता २–६१

23 श्रीमद्भगवद्गीता ५–१३

24 हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा । धर्मपाल – सदुक्तिकर्णामृतम्

25 उदाहरण के लिये – साहब सौं सब होत है बन्दे ते कछु नायँ– राई सौं परबत करे परबत राई मायँ । (कबीरदास)

26 श्रीमद्भगवद्गीता ६–३०

हज़रत तुराब के कलाम में भाव पक्ष के साथ कलापक्ष भी सबल है । उन्हें यमक अलंकार, जिसे फ़ारसी में तजनीसे ताम (تجنیس تام) कहते हैं, विशेष प्रिय है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है – "मान तुराब का कहना ईता / मान न कर वृषभानु किशोरी॥ यहाँ पहले मान का अर्थ मानना और दूसरे का अर्थ रूठना है। क्यों दई उनकी पीर दई। यहाँ पहला दई अर्थात् दैव = भाग्य जबकि दूसरा दई अर्थात् दिया है। मोरी बिथा सुन कान (=श्रीकृष्ण) कहत हैं – तोरि बिथा पर कान न दैहौं। जान के मोसे वह जान कहत हैं – कैसे कहूँ फिर जान न दैहौं॥ वारूँगी जान तुराब पिया पर जान दैहौं पर जान न दैहौं॥ सोवत जागत पी गरे लागत सोवत को अस दीन्ह सुहाग॥

हज़रत तुराब के लघुकाय काव्य में फ़ारसी कविता की समृद्ध परम्परा तथा मध्यकालीन सन्त साहित्य का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। तौहीद तथा निर्गुण कथ्य को सगुण तथा साकार कृष्ण के रूपक के माध्यम से जो कवि ने प्रस्तुत किया है वह अद्भुत है। उनमें एक साथ निर्गुण–सगुण, प्रेमाश्रयी–ज्ञानाश्रयी सभी शाखायें अपने अभिलक्षणों के साथ प्रस्तुत हैं। उदाहरण के लिये सन्तकाव्य की सगुण शाखा की कृष्णाश्रयी प्रशाखा के भ्रमरगीत प्रसङ्ग के अन्तर्गत योग की भर्त्सना का उदाहरण हज़रत के यहाँ निम्नवत् प्राप्त होता है – पिउ से तो नित संजोग रहत है – जोग करे अब हमरी बलाय। कई पङ्क्तियाँ फ़ारसी के महाकवियों की बरबस याद दिला देती हैं – औगुन सौं अब काहें लजाऊँ। पिउ जो चाहे मिटा दे औगुन, में हाफिज की पङ्क्ति – गर तू न मी पसन्दी तग़यीर कुन् क़ज़ा राउद्धासित[27] हो उठती है। इसी तरह,दर्द तुराब की क्या जाने वह देखे जो नारी बैद अनारी से अमीर खुसरो का शेर याद आ जाता है – अज़ सरे बालीने मन बर ख़ीज़ ऐ नादाँ तबीब। दर्दमन्दे इश्क़ रा दारू बजुज़ दीदार नीस्त॥[28] शाह तुराब के कलाम में भारतीय तथा अन्य सन्त परम्परायें शीरो–शकर की तरह घुल मिल कर उसे रस्य बना रहीं हैं। उनके कलाम का पैराया इतना विस्तृत है कि उसके लिये कोई ग़ैर नहीं है।

तुराब शाह जैसे सन्त कवि जो मुस्लिम समाज से सम्बद्ध होकर समाज के सभी वर्गों के पथप्रदर्शक तथा प्रिय रहे उनका बहुत बड़ा योगदान यह रहा है कि उन्होंने भारतीय मुस्लिम जनता को मूल के साथ जोड़े रखकर उसे भारत के मौलिक सांस्कृतिक रंग से परिचित कराया । इससे उद्धासित हिन्दी रंग ने इस्लामी संस्कृति को आकर्षक बनाया तथा भारतीय समाज में इस्लाम की स्वीकार्यता सामाजिक स्तर पर ही सही बढ़ी और दो बड़ी संस्कृतियों का पारस्परिक अपरिचय कम हुआ । आज निरन्तर बढ़ते हुए असहिष्णुता, अपरिचय तथा सन्देह के दौर में शाह तुराब का हिन्दी कलाम प्रासङ्गिक ही नहीं बल्कि आवश्यक भी हो गया है ।

चयनित सन्दर्भ –

1. श्रीमद्भगवद्गीता –(शाङ्करभाष्योपेता)मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली –११०००७
2. अमृत–रस – हज़रत शाह तुराब अली कलन्दर तुराब काकोरवी की ठुमरियाँ – मोहतमिम कुतुबख़ाना ए अनवरिया, लखनऊ
3. *Divan e Hafiz (Persian) – Ed. Prof. Pervez NatilKhanlari , Second Print – 1375 Hijri, Niel Publication – Tehran*
4. नीशापूरी , फ़रीदुद्दीन अत्तार (सं॰) फ़रूज़ान फ़र, बदीउज्ज़मान – दीवाने अत्तार (सूफ़ी काव्य) – मुवस्ससेये इन्तिशाराते निगाह , तेहरान – १३९० हिजरी ।
5. मौलाना , जलालुद्दीन मुहम्मद इब्ने मुहम्मद (व्या॰) नसीरी, जाफ़र ;शरहे मसनवी ए मानवी (दफ्तरे यकुम), इन्तिशाराते तर्फ़न्द , – तेहरान , १३८० हिजरी ।
6. मौलाना, जलालुद्दीन मुहम्मद इब्ने मुहम्मद (सं॰) निकोल्सन ,आर॰ ए॰;मसनवी ए मानवी–पादानुक्रमसहित, मास्को संस्करण, इन्तिशाराते हिरमिस , (चतुर्थ संस्करण) १३८६ हिजरी ।

६. मौलाना, जलालुद्दीन मुहम्मद इब्ने मुहम्मद (सं॰) कदकनी, मुहम्मद रज़ा शफ़ीई – दीवाने शम्स तबरीज़ (मौलाना के दीवान का संक्षिप्त तथा सटिप्पण संस्करण) , इन्तशाराते सुख़न– तेहरान, १३८८ हिज़री ।

27 گر تو نمی پسندی تغییر کن قضا را – دیوان حافض

28 از سر بالین من بر خیز ای نادان طبیب – دردمند عشق را دارو بجز دیدار نیست– امیر خسرو

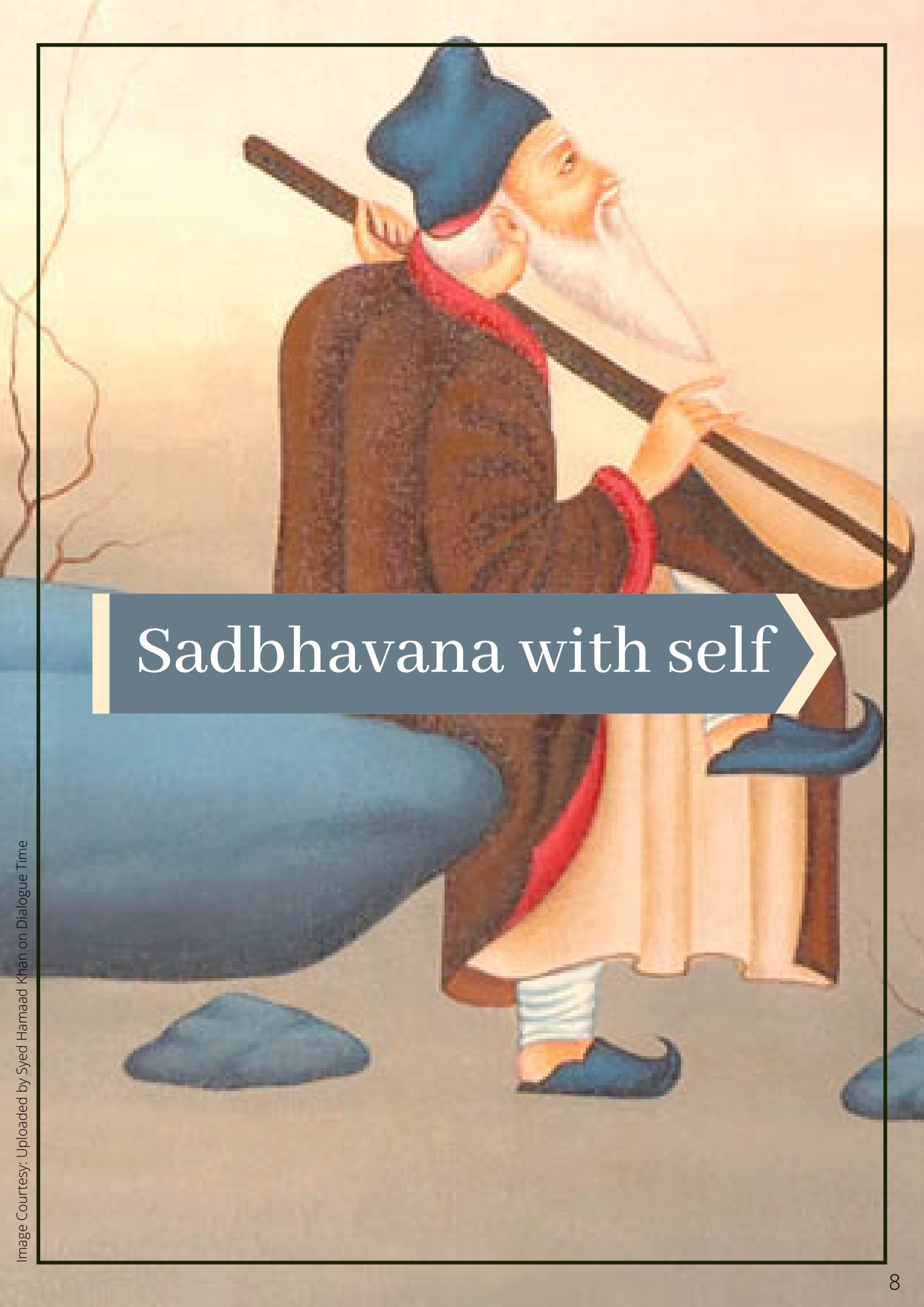

Sadbhavana with self

Image Courtesy: Uploaded by Syed Hamaad Khan on Dialogue Time

जाति न पूछो साधु की

Rajneesh Bisht

आजा री निंदिया तू आ क्यों ना जाती
मुन्ने को मेरे सुला क्यों ना जाती
आती हूं बीबी,आती हूं मैं
मुन्ने को तेरे सुलाती हूं मैं

यह लोरी सुनकर हिंदू बच्चा भी सो जाता है मुस्लिम बच्चा भी जानते हैं यह किसने लिखी है... अमीर खुसरो ने... सूफी थे.

सूफी-संत श्रमजीवी थे...मेहनतकश...वो धार्मिक कर्मकांडो से कमाने वाले लोग नही थे..पर इतना कमा गए की आज भी हम कर्ज़दार है. सदियों से भारतीय एवं एशियाई लोगों के भीतर एक सत्य, प्रेम,विद्रोह और भक्ति की चेतना जगा गये, जो आज भी हमारे भीतर बसी है. वो आम लोगों की ज़िन्दगी का हिस्सा बन गये.

उनके मीठे बोल,खुरदरे शब्द बरसों से जैसे सद्भावना,मोहब्बत,एकता,शांति जैसी नियामते बांट गए हो..दे गए प्रेम की विरासत, जीवन को जीने के अर्थ ,जीने का एक मुक्त अंदाज़...बड़े छोटे के भेद के बिना, सहजता से..बराबरी से कोई पलट के कमाल कर देता है..

कहते है पलटू दास ने अपने शरीर, अपने मन को पूरी तरह से बाहर से भीतर और नीचे से ऊपर की ओर मोड़ लिया,पलटू दास की सूरत दुनिया भर के सुखों से पलटकर भीतरमन की गहराईयों में जा फंसी.

ये तो पलट गया, यह तो पलटू बन गया है
गुरु ने कहा

उस समय से ही इनका नाम पलटू मशहूर हो गया है उन्होंने खुद अपनी वाणी में सतगुरु से मिले नाम का ही इस्तेमाल किया जो उनकी सतगुरु भक्ति के लिए प्रेम का भी प्रतीक है.

कौन करे बनियाई अब मोरे, कौन करे बनियाई
त्रिकुटी में है भरती मेरी, सुख मन में है गादी
दसये द्वारे कोठी मेर, बैठा पुरुष अनादि
इंगला पिंगला पलरा दूनो, लागी सुरती की ज्योति
सत सबद की ढयोडी पकरौ, तोलौ भरी-भरी मोती
चांद सूरज दो करें रखवारी, लगी संत की ढेरी
तुरिया चढ़ीके बेचन लागा, ऐसी साहिबी मेरी
सतगुरु साहिब किया सिपारस, मिली राम मोदियाई
पलटू के घर नौबत बाजे, नित उठी होती सवाई

बनिया से पलट के संत बन जाता है और अपना नया ही तोल मोल बतलाता है.

डाल-डाल अल्लाह लिखा है,पात-पात पर राम
कउन चिरैया असगुन बोली जंगल जला तमाम

सूफी संतो ने खुद को मुक्त किया वर्ग,धर्म,जाति के बंधन से.श्रमजीवी...मेहनतकश थे, खुद कमाते थे तो किसी के दास नही थे. वो जालिम राजाओं को फटकार तक लगा देते थे,

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी
वह नृप अवसि नरक अधिकारी
-संत तुलसीदास

सूफी संतों की दुनिया बहुत बड़ी है खुली है, प्रकृति की तरह, बाहें खोले.उन्होंने इस दुनिया और उसमे हो गये बटवारे पर कभी यकीन नही किया. सबके लिए सांस लेने की जगह है. प्रेम और विद्रोह एक साथ. प्रेम विद्रोह से निकला है या विद्रोह प्रेम से, दोनों साथ साथ चलते हैं. विद्रोह उन मान्यताओं से जो प्रेम और सत्य को दबाती है,जड़ता बनती है और धीरे धीरे पूरे समाज को जकड़ लेती है.

सत्य जो सबके भीतर है पर अहंकार और भेदभाव से वो बेराह हो जाता है. सूफी संत अपना रास्ता अलग बनाते हैं जहां ना भेदभाव है ना कोई वर्ग विशेष.

क्या दृश्य रहा होगा जब कबीर अपने गुरु रामानंद से मिले होंगे!
(कबीर सीढ़ियों पर बैठे हैं तभी किसी का पैर लगता है)

कबीर -राम राम
रामानंद - कौन
कबीर -आप कौन?
रामानंद - रामानंद (कबीर उनके पैर पड़ जाते हैं)
कबीर - महाराज अपना शिष्य बनाएंगे
कबीर- **तू ब्राह्मण में काशी का जुलाहा**
हिंदू कहो तो मैं नहीं मुसलमान भी ना ही
पांच तत्व का पुतला गौबी खेले मोबी
रामानंद- **जाती पाती पूछे ना कोई**
हरि को भजे सो हरि का होई

कबीर को गुरु और गुरु मंत्र मिल गया था, और सदगुरु को शिष्य. क्यूंकि गुरु की पहचान भी तो शिष्य से ही है.

तुलसीदास जब रामचरितमानस अवधी में लिख रहे थे ताकि आम लोग भी राम कथा सुन सके. तो काशी के पंडे नाराज हो गए,पर तुलसीदास नहीं माने.

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
का की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ*।
माँगिके खैबो मसीत† को साइबो लैबे को एक न देवे को दोऊ॥

अर्थ- चाहे कोई धूर्त बतावे या अवधूत (फ़क़ीरर) कहै या रजपूत कहै, किसी की लड़की से मुझे लड़का ब्याहकर उसकी जात नहीं बिगाड़ना है। तुलसी तो राम का गुलाम प्रसिद्ध है, जिसका जो जी चाहे सो कहै; माँगकर खाता है, मज़े से सोता है। उसे न लेना एक है न देना दो। (अन्य पाठ मजीत को सोइबो अर्थात् मसजिद जहाँ सब की गम्य है ऐसे स्थान पर सोना।)
सूफी-संत आम लोग थे और आम लोगों के बीच ही जीते थे वो ऊँचे समाँज की नैतिकता लादकर नीचले समाज में नही थोपते थे.बल्कि समाज से जुड़कर उनकी जड़ता की गाँठ खोलते थे.जहाँ एक वर्ग समाज को उलझाने में ल्क्गा रहा वहीँ सूफी-संत सुलझाने में.

तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी ।
मैं कहता सुरझावन हारि, तू राख्यौ उरझाई रे ।

माना जाता है जनभाषा में रामायण रचने भूख से मरते भ्रम हत्यारे को भोजन कराने बिना छुआछूत की परवाह किए काशी प्लेग महामारी में जन सेवा के लिए अखाड़ों की स्थापना करने,अपने आराध्य की जन्म स्थान मस्जिद में फकीरों के साथ रहने आदि के कारण तुलसीदास पर बहुत प्रहार हुए उनकी जाति पर प्रश्न उठाए गए कुलटा ब्राह्मणी की राजपूत संतान जैसी गालियां दी गई तुलसी की अभिव्यक्ति इंजन जा बातों के उत्तर में है.

मेरे जाति पाँति, न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को॥
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
साहही को गोत गोत होत है गुलाम को।

अर्थ- मेरी कोई जाति पाति नहीं है और ना मैं किसी की जाति पाति चाहता हूं.कोई मेरे काम का नहीं है, न मैं किसी के काम का हूं.मेरा लोक परलोक सब राम के हाथ है. तुलसी का को तो एकमात्र राम नाम का ही बहुत बड़ा भरोसा है लोग अत्यंत गवार हैं कहावत भी नहीं समझते कि जो गोत्र स्वामी का होता है वही सेवक का होता है साधु हूँ अथवा साधु,भला हूं अथवा बुरा इसकी मुझे कोई परवाह नहीं मैं जैसा कुछ भी हो राम का हूं क्या मैं किसी के दरवाजे पर पड़ा रहा हूं.

नानक और मरदाना एक ही गांव में पैदा हुए. ये तलवंडी में हुआ.तब गांवों सब मिलजुलकर रहते थे. करीब 300-400 साल पहले हमारा सामाजिक ढांचा खासी अलग और भाईचारे वाली होती थी.

नानक और मरदाना दोनों बचपन के दोस्त थे. हालांकि मरदाना बड़े थे. ऐसे भी बचपन की दोस्ती ना तो धर्म की दीवारों को मानती है और ना ही ऊंच-नीच को. नानक बड़े और अमीर खानदान से वास्ता रखते थे तो मरदाना उस मुस्लिम मरासी परिवार से ताल्लुक रखते थे, जो गरीब थे और जिनका ताल्लुक संगीत के साजों से था. बाबा नानक जहां भी कहीं बाहर यात्राओं पर गए. भाई मरदाना हमेशा उनके साथ रहे.

श्री गुरु नानक देव जी के (बचपन के) सच्चे साथी भाई मरदाना जी सारी उदासीयों में गुरु जी के अंग-संग रहे हैं. उन्होंने गुरु साहिब के संग देश विदेश का लगभग 40000 किलोमीटर का सफर पैदल तय किया .भाई मरदाना जी ने गुरु नानक देव जी की वाणी को अपने साज़ में महसूस किया. जब भी गुरु साहिब के हृदय में बानी उठती, वह भाई मरदाना से कहते हैं **'मर्दानियाँ रबाब उठा बानी आई है'** गुरु नानक देव जी का हुकुम पाकर भाई मरदाना जी की रबाब झंकृत होती और गुरु जी के मुख से पानी की वर्षा होती. कहते है की मरदाना जी ने ही गुरु नानक को कबीर और रैदास के भजन गाकर सुनाए. जहाँ भाई साहब को गुरु साहिब की बाणी को 19 रागों में बांधकर गाने का शर्फ़ हासिल है वहीं उन्हें गुरु नानक दरबार के प्रथम कीर्तनयें होने का भी मान प्राप्त है.

मीरा जो एक राज परिवार से थी राजरानी थी. रैदास को गुरु बनाती है रैदास चमर (चमार) जाति के थे सदियों की सामाजिक जड़ता तोड़कर मीरा जैसी राजरानी एक चर्मकार के सामने झुकती है
मीराबाई कहती हैं :-

– 'गुरु मिलिआ संत गुरु रविदास जी, दीन्ही ज्ञान की गुटकी.'
– 'मीरा सत गुरु देव की करै वंदा आस.
जिन चेतन आतम कहया धन भगवन रैदास..'

मीराबाई का संत रविदास को गुरु मानना से ना सिर्फ संत रविदास की महानता का पता चलता है,राजपूत एवं राज परिवार की सदस्या मीराबाई का अछूत समाज में जन्मे संत रविदास को अपना गुरु मानना किसी ऐतिहासिक घटना से कम नहीं है.क्या चमक होगी रैदास में जिसको मीरा गुरु कहे....क्या यह उतना आसान रहा होगा? पर सद्गुरु तो बड़ी मुश्किल से मिलता है.मीरा तो पाने गुरु

को पहचान गयी थी ये अपने समय का कितना बड़ा विद्रोह होगा, पर प्रेम के लिए विद्रोह जरूरी है जो जाति वर्ग का भेद नहीं मानता. रैदास का **बेगमपुरा** भी एक ऐसा ही सपना है... बराबरी और आदर्श समाज का.

रैदास जी ने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार पर जीत हासिल करके,खुशहाल समाज का सपना देखा और कल्पना की. जहां कोई छोटा-बड़ा न हो, चारों ओर खुशहाली ही हो। गुरु रविदास जी के अनुसार बेगमपुरा एक ऐसा शहर है जहां कोई गम नहीं है।

बेगम पुरा सहर को नाउ।।
दूखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ।।
नां तसवीस खिराजु न मालु।।
खउफु न खता न तरसु जवालु।।*1*।।
अब मोहि खूब वतन गह पाई।।
ऊहां खैरि सदा मेरे भाई ।।*1*।। रहाउ।।
काइमु दाइमु सदा पातिसाही।।
दोम न सेम एक सो आही।।
आबादानु सदा मसहूर।।
ऊहां गनी बसहि मामूर।।*2*।।
तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै।।
महरम महल न को अटकावै।।
कहि रविदास खलास चमारा।।
जो हम सहरी सु मीतु हमारा।।*3*।।

गुरु रविदास जी फरमान करते हैं कि जिस आत्मिक अवस्था वाले 'शहर' *(*माहौल, समाज*)* में मैं बसता हूं उसका नाम 'बेगमपुरा' है। वहां न कोई दुख है, न कोई चिंता और न ही कोई घबराहट है। वहां किसी को कोई दर्द नहीं है। वहां कोई जायदाद नहीं है और न ही कोई कर लगता है। वहां ऐसी सत्ता है जो हमेशा रहने वाली है। वहां कोई श्रेणी-भेद नहीं है। गुरु रविदास जी फरमान करते हैं कि ऐसी खुशनुमा आबो-हवा वाले 'शहर' में जो रहेंगे वही हमारे मित्र हैं। तात्पर्य यह है कि प्रभु-मिलाप वाली आत्मिक अवस्था में सदैव आनंद ही आनंद बना रहता है।

रैदास जी ज़िन्दगी भर बेगुम्पुरा का ख्वाब बांटते नजर आये.एक मुक्त बराबरी का समाज इंसानियत और मोहब्बत जहाँ बस्ती हो और जहाँ नफरत घृणा भेदभाव और उंच नीच के लिए कोई जगह ना है,जहाँ समानता और एकता अमाई हो.गुरु रविदास जी जीवन भर एक ऐसे आदर्श समाज की संरचना एवं संभाल में संलग्न रहे जहां घृणा, भेदभाव और शत्रुता,बैर नहीं है, समता और एकता का ही बोलबाला है।

कई महान कविताओं व भारत के राष्ट्रगान के रचयिता गुरु रवींद्रनाथ टैगोर से एक बार मशहूर फिल्म कलाकार बलराज साहनी, जो तब शांति निकेतन में अध्यापक थे, ने पसवाल किया कि जिस तरह भारत का राष्ट्रगान उन्होंने लिखा है तो क्यों न पूरी दुनिया के लिए भी एक विश्वगान भी लिखें? इस पर उन्होंने कहा कि वह तो बहुत पहले ही लिखा जा चुका है, १६वीं शताब्दी में गुरु नानक ने मात्र विश्व ही नही बल्कि पूरी कायनात के लिए गीत लिखा है.यह मात्र इस विश्व ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए गान है। गुरुदेव टैगोर इस आरती से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने खुद बांग्ला में इसका अनुवाद भी किया।

गगन मै थालु, रवि चंदु दीपक बने,
तारका मंडल, जनक मोती।
धूपु मलआनलो, पवण चवरो करे,
सगल बनराइ फुलन्त जोति॥
कैसी आरती होइ॥
भवखंडना तेरी आरती॥
अनहत सबद बाजंत भेरी॥

अर्थ- आकाश रूपी आरती के थाल में सूर्य और चंद्र दीपक के समान प्रज्ज्वलित हैं, तारा मंडल मोतियों की तरह शोभायमान हैं। मलय पर्वत से आती चंदन की सुगंध ही धूप है, वायु चंवर कर रही है, समस्त वनों की सम्पूर्ण वनस्पतियाँ तुम्हारी आरती के निमित्त फूल की तरह अर्पित हैं। अनहद शब्द भेरी की तरह बज रहा है। हे भवखंडन*!* तुम्हारी आरती की भव्यता का किस तरह वर्णन किया जा सकता है!

वो सदियों से हमरे जीवन का हिस्सा रहे है,लाल दद के बिना कश्मीरियत अक्का महादेवी के बिना कन्नड़,नरसी मेहता के बिना गुजराती,बाबा बुल्लेशाह के बिना पंजाबी संत चोखा मेला के बिना मराठी को नही देखा जा सकता.और ऐसे ही अन्य भाषाओ को उनके सूफियो को बिना नही समझा जा सकता.लगभग हर हिंदी भाषी बच्चे ने अमीर खुसरो की पहेलियान, मुकरियां और उलटबासियाँ कभी न कभी सुनी होगी.

एक थाल मोतियों से भरा,
सबके सर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे,
मोती उससे एक न गिरे।
उत्तर – आसमान

गोल मटोल और छोटा-मोटा,
हर दम वह तो जमीं पर लोटा।
खुसरो कहे नहीं है झूठा,
जो न बूझे अकिल का खोटा।।
उत्तर - लोटा।

श्याम बरन और दाँत अनेक,
लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे
और कहे तू आ री।।
उत्तर - आरी।

मुकरी
नंगे पाँव फिरन नहिं देत
पाँव से मिट्टी लगन नहिं देत
पाँव का चूमा लेत निपूता
ऐ सखि साजन*?* ना सखि जूता!

आज भी सूफी-संतो के गीत आज के युवाओं के दिल में बसते है.चाहे वो फिल्मे हो या रॉक बैंड हो, संगीत मंडलियाँ हो या लोकगीत.सूफी-संत हर जगह मौजूद है .युवाओं के मशहूर कार्यक्रम होप म्यूजिक में आज भी सबसे ज्यादा बाबा फरीद,बुल्लेशाह,मीरा,रैदास इत्यादी के गीत गाये जाते है. सूफियो का वहां भी बोल बाला है.

सूफी संत इन्सान और इंसानियत को पहचानते थे इसीलिए उन्होंने हमेशा इंसान को जाती,धर्म और भेदभाव से ऊपर देखा है. इसीलिए उनकी भाषा भी मिलीजुली रही है.

सूफी संत आज़ाद पंछी रहे है,खुले आकाश में आज़ादी से उड़ान भरने वाले.पर उनके पाँव की छाप ज़मीन पर सुन्दर निशान बनती है.और बताती है की ज़मीन से उड़ान भरना क्या होता है!

सबके अपने अपने अंदाज़ रहे है, अपने अपने तेवर पर एक चीज़ जो सामान रही है वो है प्यार *!* जीवन से, जीवों से और इंसान से. वो इंसान को जाती-पाती,धर्म से ऊपर देखते है.

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान,
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान।
-कबीर

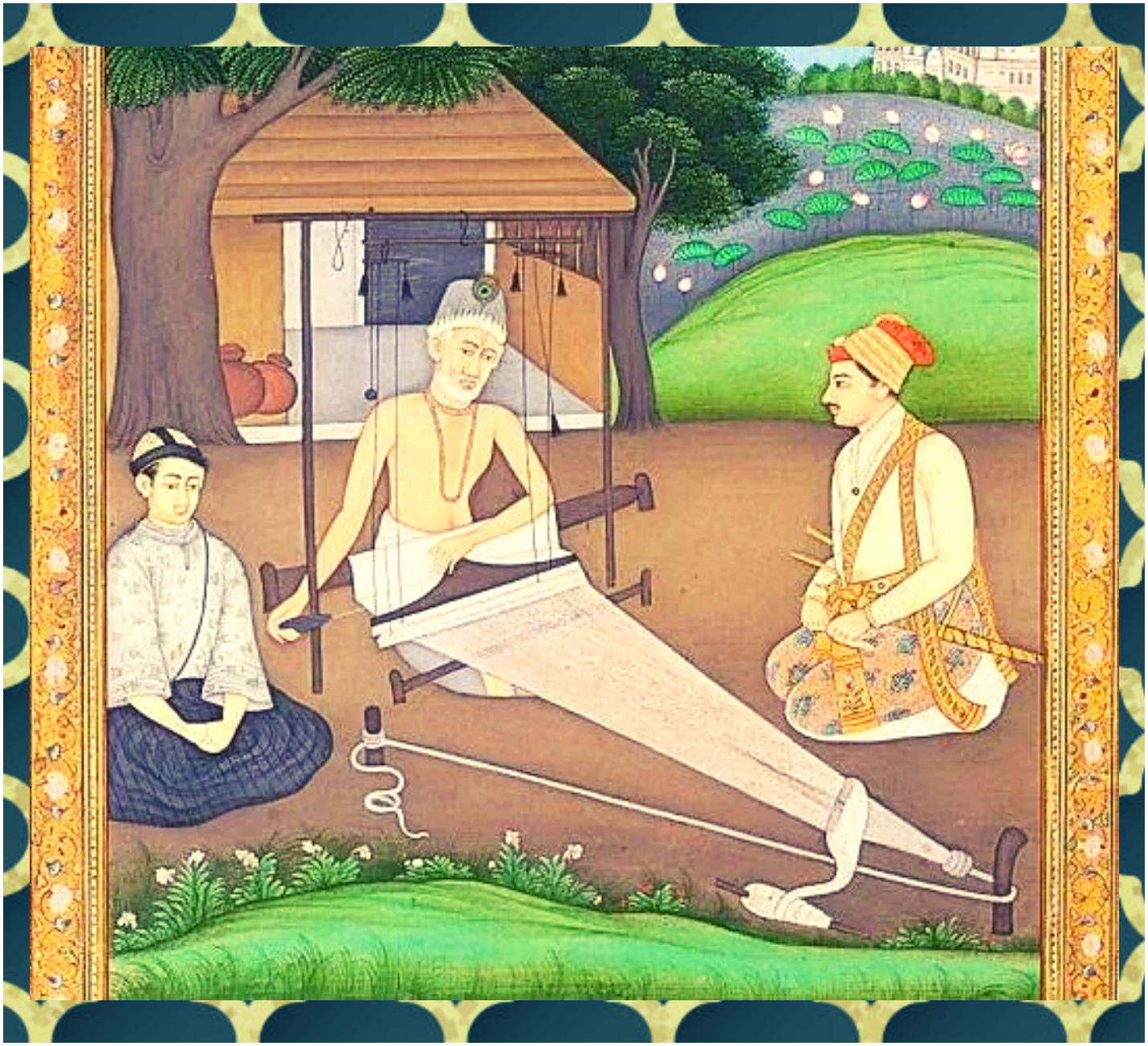

Image Courtesy: Created by Suman Mishra on Osho World

“One Water in Many Vessels”
Kabir in Popular Music (Excerpts)

Vivek Virani

Kabīra Kuā ek hai, panihāri anek
Bhartan sab ken yāre hai, pānī sab meṅ ek
Kabir says – there is one well, but many water-carriers
Each bears a different vessel, but the water in all is the same

- Kabir sākhī

Vedanth and Bindhu: Kabir Unplugged

Listen: Vedanth’s fingers slide, strum, and slap across his guitar’s thick steel strings as he plays a twelve-bar blues lick in E major. He allows the chords to ring out, so the audience can appreciate the space between them. His silky, clear voice contrasts with the raw, percussive sound of the guitar as he sings:

Bhajo re bhaiyā Rāma Govinda Hari
Jap tap sādhan, kacchu nahīṅ lāgat, kharchat nahīṅ gaṭharī
santat sampat sukh ke karan jaso bhool bhayii
Rām nām ko sumiran kar le, sir pe maut khaḍī
Kahat Kabir Ram na jā mukh, tā much dhūl paḍhī

Sing oh brothers, the names of God: Ram, Govinda, Hari
Chanting, spiritual penance and practice, these require no expense
Forget progeny and wealth, these will not bring you happiness
Remember the name of God – for death is standing on your head
Kabir says: the face that does not go to God,
That face will become nothing but dust

- Kabir bhajan

His voice swoops over the chords, effortlessly matching the blues progression, while retaining its unmistakably Carnatic character. Bindhu, sitting beside him, joins during the chorus, singing sweeping melismas in the spaces Vedanth leaves between lines. A palpable thrill sweeps through the concert hall as Vedanth calls out the line, “death is standing on your head.”

The two singers sit alone on a large, wooden stage. They are performing as part of a program called Anand Lahiri (Waves of Bliss) organized by a Hindu organization in honor of its Guru. Most of the attendees are upper middle-class Hindus from around Mumbai, although there is

a concentrated group of more “hippie” types in the second row: Vedanth and Bindhu’s fans from the Mumbai Kabir family. Within this performance context, Kabir is a devotee, urging fellow devotees to turn their focus to God before it is too late. The bhajan contains many of Kabir’s signature elements: the biting wit, the bold challenge to the listener, the preoccupation with death.

Yet, this bhajan is not interested in overturning the status quo or in any other discernible social action. It is purely devotional; the message is - think of God and sing His name. The specific names used may even categorize Kabir as a devotee of Vishnu.

Partha Chatterjee has argued that in the process of resisting colonial rule, nationalists conceptually divided social life into two domains: 1) a material/political exterior and 2) a spiritual/artistic interior (Chatterjee 1993). He suggests that in response to their apparent inferiority in the former arena, Indians claimed superiority in the latter arena, appropriating colonial Orientalist perspectives on Indian culture and subverting them for their political benefit. This binary paradigm has been threatened since the time of Chatterjee’s writing by the rise of sectarian and fundamentalist political discourse, but it has endured to large extent; much of India’s middle-class still perceives spirituality as entirely divorced from politics, if only at an ideal level. Anna Schultz refines Chatterjee’s model in her ethnography of rāṣhṭrīya kīrtankār-s (nationalist devotional singers) in Maharashtra. Schultz suggests that while Chatterjee’s binary does apply to upper-class Indian society, among non-elite and especially rural populations, political movements have always been characterized by, rather than separated from, spirituality and devotion (ibid., 9-10). Ethnographies of other lower-class, rural, or subaltern devotional music traditions in India support Schultz’s claim (Dube 1998; Khare 1984; Schaller 1995; Sherinian 2014; Zelliot 1995).

In the villages of Malwa, Kabir is mystical, devotional, and political all at once. Here, in front of a middle-class Hindu crowd in a modern concert hall, the devotional Kabir is celebrated and the political is excluded (and largely unknown). The urban middle class Kabir joins a pantheon of *bhakti* saints – Meera, Nanak, Surdas – whose messages have been reconfigured to suit India’s post-Independence social ideals of inclusivity and “domestic virtue” (Hawley 1995b, Lutgendorf 1995; Pritchett 1995). Vedanth and Bindhu’s performance at Anand Lahiri generally falls within this category; songs of Kabir, Namdev, Meera, and Amir Khusrau are presented as the voices of ideal spiritual devotees, not social critics.

However, while their performance upholds the political versus spiritual binary described by Chatterjee’s model, this has become de-linked from the related Western/modern versus Indian/traditional binary. Narayanaswamy and Bharadwaj are singing spiritual music, but they are also singing American blues. The only instruments on stage are a guitar and a banjo. This indicates that the Indian middle-class conception of political and spiritual as separate spheres has lingered in the national consciousness, but has become dissociated from the explicitly nationalist concerns that birthed it.

In the decades since independence, it has become possible for performers and audiences to relate to “traditional” spirituality through idioms that are simultaneously Western and Indian. The presence of Sant poetry is an important part of this equation, as it legitimizes the performance as part of an established and widely loved spiritual tradition. I do not mean to suggest that Western musical instruments or elements were entirely absent from Indian devotional music until now. Devotional songs in Bollywood movies, for example, were arranged orchestrally in the manner of much Indian film music from the 1950s onward. Even Anup Jalota, the model professional devotional recording artist, consistently includes acoustic guitar in many of his tracks. However, I suggest the music under discussion in this chapter crosses into the territory of Western popular music to an unprecedented extent, with regards to its musical structure as well as its presentation and contextualization.

Born in the early 1980s, Narayanaswamy and Bharadwaj are part of the generation of Indians whose artistic and cultural sensibilities were shaped during a critical transition period in India’s encounter with global popular culture. Both were born in a time and environment in which they perceived the world of Indian culture / spiritual music as entirely separate from the world of Western culture / popular music. Their personal artistic paths illustrate the way that India’s urban middle class has begun to embrace “Westernized” popular music as an entirely legitimate context for religious performance.145 Both Narayanaswamy and Bharadwaj shared accounts of their musical journeys categorized by the presence of cultural boundaries, and the subsequent crossing of those boundaries facilitated, rather than hindered, by their endeavor towards spiritual exploration.

(Editor’s Note – Vivek provides us with backgrounds to family life and musical training for both Vedanth and Bindhumalini here, which we are skipping, although we recommend the readers to go through them. We move to the discussion around their coming together to perform and their connection with Kabir.)

(365) 'Naiharva' by Bindhumalini & Vedanth - YouTube

Narayaswamy's first engagement with Kabir came through her older sister, Jaya Madhavan. A writer by profession, Madhavan hosted regular home gatherings themed around India's devotional poets. In 2002, she held a Kabir gathering for which she wrote a 20-minute play about Kabir, framed as an argument between the warp and the weft of a loom.148 Narayanaswamy participated as an actor and a singer. She confesses that she did not really grasp the meaning of the poetry at this time. Even her Carnatic music, she described herself as "lyrically challenged." Her main engagement was through the music, and she was satisfied with an "essential understanding" of each composition. Kabir bhajans posed an even greater challenge, as Narayanaswamy was not fluent in Hindi. Her inspiration to seriously explore the poetry came later, as Kabir later came to take a central role in shaping her musical future. This happened through Narayanaswamy's collaboration with singer Vedanth Bharadwaj.

One day Bindhu, now a resident of Bangalore, happened to attend a satsang at Shabnam Virmani's house along with her sister, Jaya, and her husband, Vasu Dixit, who is the frontman of a rock fusion group called Swarathma. Bindhu sang "Naiharvā hamkā na bhāve" at the satsang, and Virmani loved it. She asked Bindhu to accompany her to Lunyakhedi in early 2008. Narayanaswamy recalls: "Now that people are asking me about Kabir I thought, OK, I'll go and figure out what exactly I am singing." Narayanaswamy fondly recalls that first trip to Lunyakhedi, from the moment she arrived at the train station and Prahlad Tipanya came to pick her up and treat her to hot pohā and jalebī (flattened rice and a sweet made from fried batter). She confesses that, with her limited fluency in Hindi, she would have been lost during many conversations had Linda Hess not been present to translate.

Kabir in the Studio

A few years later, in 2010, Vedanth called Bindhu when he was working on a CD based on Kumar Gandharva's Kabir bhajans. "I hit a roadblock. I needed some new ideas," he explains. Once Bindhu added her voice to the project, the ideas began to flow once more. They produced a CD of eight Kabir bhajans that was released in 2012 under the title, Suno Bhai (Listen, Brother!).

Five of the bhajans on Suno Bhai were based on Kumar Gandharva melodies, one was based on a dhrupad melody by the Gundecha brothers, and one was Vedanth's original blues rendition of "Bhajo re bhaiyā" (loosely based on his teacher's composition in Rāga Jog-Kauṅs. The final bhajan was "Piyā kī suratiyā dekh maghan bhayī," a Malvi bhajan that Bindhu learned during her visit to Lunyakhedi. But it took an entirely different style on their CD. "Something about the bhajan made me think of the 'Hand-Jive' rhythm. You know, that 'Dun, dun, dun, ta DUN. DUN.'" Vedanth explains, "so I just had to add that to the track." The guitar and vocal parts of that track, perform by Bharadwaj and Narayanaswamy, respectively, are shown below:

Guitar and vocal parts from "Piya kī suratiyā0," transcribed from album Suno Bhai (2012) by Vedanth Bharadwaj and Bindhumalini Narayanaswamy.

Narayanaswamy, trained from childhood to sing in the heavily melismatic style of Carnatic music, sings this song in a highly syllabic style emulating the Malvi nirgun singers from whom she learned it. But there is no mistaking the track for a folk song, as Vedanth's percussive "Hand-Jive" guitar combines with accordion, cajon, and conga drums to create an upbeat pop sound. The song has been transformed, not just through its journey from the fields of Malwa to a recording studio in Chennai, but through the years of diverse artistic experiences that both artists brought into the studio.

The song experienced another transformation that Narayanaswamy and Bharadwaj likely did not even realize: the bhajan, *"Piyā kī suratiyā dekh maghan bhayī"* is not a Kabir poem at all.

It was written and published by a contemporary author named Ram Bharti, but Tipanya enjoyed it and decided to include it in his repertoire. This involved setting the bhajan to tune and substituting the author's chhāp with Kabir's. Now, a whole new audience will have the chance to learn this "Kabir bhajan" through the CD. Perhaps in another generation, it will be an unquestioned part of the popular pan-Indian Kabir repertoire as well.

Suno Bhai was a huge success; it brought many new performance opportunities for Vedanth and Bindhu. It also linked them with Kabir, and cemented their status as devotional singers who blend Western instruments and harmonies with Indian classical vocals. They have become mainstays of the Kabir festivals and the Malwa Kabir Yatra. At the 2015 Yatra, they had the opportunity to perform Kumar Gandharva's Kabir bhajans at the Shilnath Dhuni temple in Dewas, the very site where Gandharva learned and sang those bhajans.

Bindhu and Vedanth's initial connection with Kabir was largely circumstantial. They were initially drawn to him through musical sound, rather than poetic inspiration. Kabir bhajans served as canvases upon which they may expand their musical creativity.

Significantly, the legitimation provided by Kabir's name allowed them to maintain a foothold in traditionally even as they expanded into musical spaces that initially seemed incompatible with devotional singing. Simultanesously, Kabir's iconoclastic spirit provided inspiration to explore in new musical directions.

Over the years, these artists have begun to explore the meaning of the poetry as well, and find ways to contextualize it within their own lives. Now, both of them are now immersed in Kabir poetry, and it forms a major part of their senses of self. Furthermore, their connection to Kabir and the Malvi nirgun tradition has led them to connected them to spiritual networks and presented new avenues of artistic exploration. In 2014, Falguni Desai requested Narayanaswamy and Bharadwaj to perform poetry by the Ṣūfī poet Amir Khusro for the Mumbai Festival. As South Indians with only a conversational grasp of Hindi, they balked at the idea of singing in Urdu and Farsi. Yet they learned the songs, and the program was a major success that they have since performed many times throughout India along with Ankit Chadha, a storyteller from Delhi, and Ajay Tipanya, Prahlad's son, accompanying them on ḍholak. The success of the Khusrao program inspired them to develop an entire qawwālī performance in collaboration with all the musicians who usually accompany Prahlad Tipanya: Prahlad's sons, Vijay on vocals and Ajay on ḍholak; his younger brother, Ashok on vocals and manjira; his nephew, Dharmendra on harmonium; and Devnarayan Saroliya on vocals and violin. Again, the broad social, spiritual, and musical networks created through Kabir bhajans have brought disparate performers into contact, conversation, and collaboration.

Bindhumalini Narayanaswamy and Vedanth Bharadwaj perform at the Shlinath Dhuni Mandir, Dewas, MP. Febrary 27, 2015.

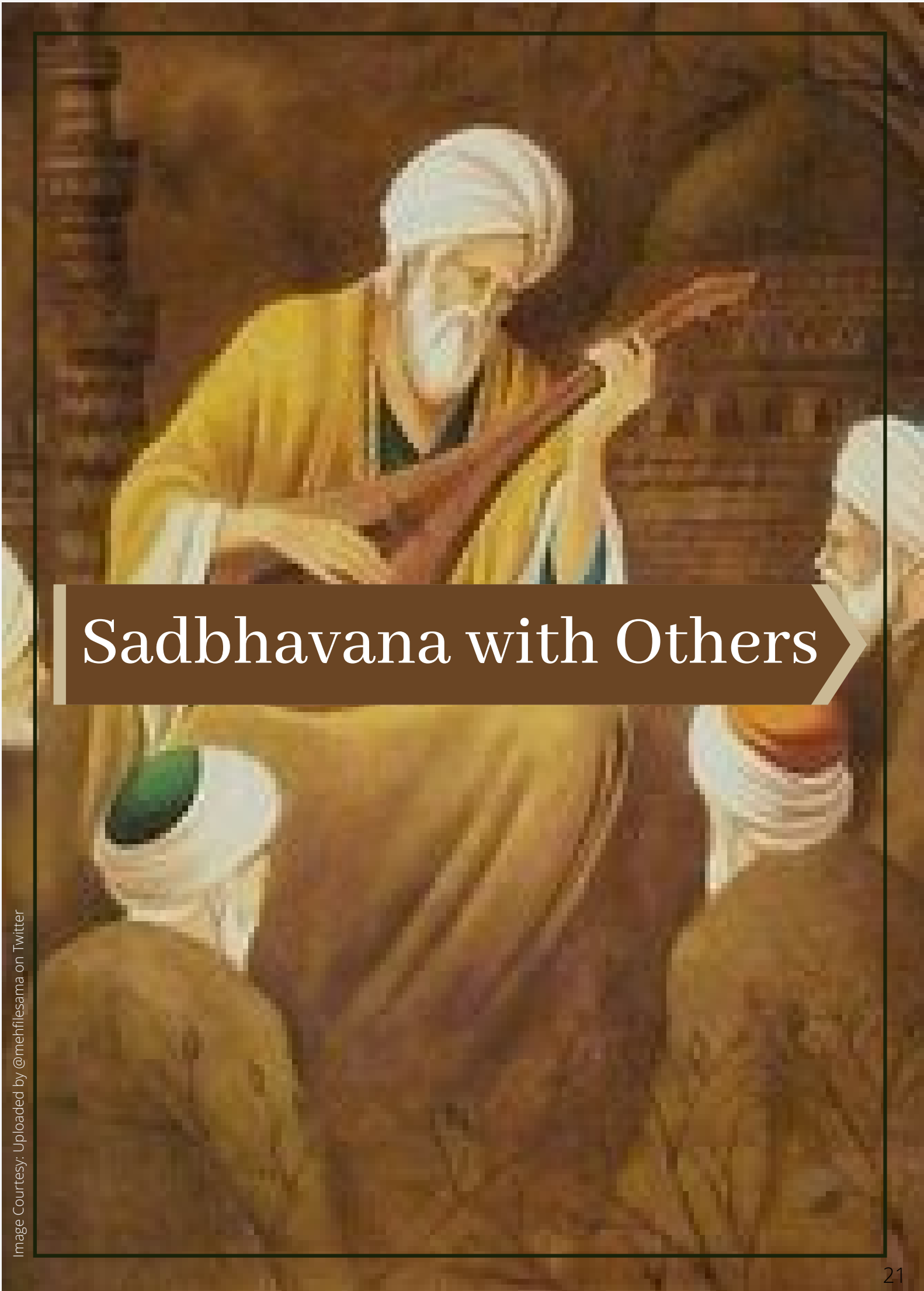

Sadbhavana with Others

Image Courtesy: Uploaded by @mehfilesama on Twitter

Ṣūfī Altruism

Richard McGregor

The idea of selflessness, the willing forfeiture of one's interests for another, seems to have pervaded cultural and religious systems throughout history. We might rightfully start to explore this idea by distinguishing between actions and motivations that serve others, and those that serve ourselves. Any discussion of the concept of altruism, however, quickly encounters a conundrum. Why, for example, should a Muslim pay zakāt, the obligatory tax for the poor? Why should anyone give charity in any form? Why be patient and forgiving with friends? And why do we love our children? It seems that whatever form of altruism we examine, the boundary between serving others and ourselves, is in fact murky. On closer inspection, we might question who exactly benefits from charitable giving. Beyond improving the situation of the poor, the benefactors profit at several levels: they have a clear conscience in the face of economic in equality, they may live in a socially peaceful, less hostile public space, and earn heavenly credit against their sins, and improve their own afterlife. Selflessness toward family and friends might occasion a similar quandary about altruism: the happiness and success of friends enriches our lives, and the sacrifices we make for children are long-term investments in a thriving family, which reflects well on us.

But we can muddy the waters around altruism further, by questioning if any act can be truly selfless. Acts of selflessness are taken quite seriously in several branches of Islamic knowledge. The practice of Islamic law, with its institutions of pious endowments (*waqf*, pl. *awqāf)* and its charitable giving (*zakāt* and *ṣadaqa*), recognises and regulates altruism. Yet, it is in the field of Ṣūfīsm that the complexities of altruism are most carefully explored. Here the term *īthār*, with its sense of privileging or preferring the other, is key. As we see, Ṣūfī thinkers followed various strands of the idea, which together form a multi-layered understanding of altruism. The first of these strands centres on the obligations imposed by religious law, obligations that demand the disci pline of the self in return for divine favor and ultimate reward in the afterlife. The second strand embraces altruism as the religio-cultural virtue of chivalry, benevolence, and humility. Building on this chivalry, the third dimension moves beyond any sense of transactional reward for virtue, and transforms selflessness into a mystical experience that decentres the subject's selfhood, and ultimately collapses that self into its relationship with the divine. In Arabic, the notions of altruism and selflessness (*īthār*) include such terms as *akrama* (to treat with reverence, to honor), *faḍḍala* (to give preference), and *qaddama* (to set another forward). An overview of the terminology used by exegetes and philologists (Ohlander, Altruism) is based on key scriptural reference, such as Qurʾān 59:9, which states, "And they prefer them to themselves, although they are indigent." The context for this passage is the welcome extended by the Muslims of Medina (the Anṣār), despite the hardship, to their coreligionists (the Muhājirūn) fleeing Mecca.

The moral value of this selflessness is recognised in the Qurʾānic revelation, which, in several instances, recasts worldly wealth in terms of its metaphysical import, most clearly by enjoining charity. The common understanding that zakāt is the obligatory tax paid yearly, in contrast to ṣadaqa, which is voluntary giving, is not born out in the Qurʾānic text (see, for example, 9:103–4). Later legal discourse, however, confirms these conceptual boundaries, projecting them back into the Qurʾānic material (see Wier and Zysow). Regardless, the Qurʾān claims that God recognises all charitable giving: “Those who spend their wealth (in God’s way) by night and by day, secretly and publicly—they will have their reward with their Lord. And no fear shall they have, nor will they grieve” (Q 2:274). The heavenly credit such giving accrues will be counted against the record of one’s misdeeds: “If you give publicly, this is beneficial. But if you conceal your giving to the poor, that is better, for it will atone for some of your sins. God is well-informed of all that you do” (Q 2:271). Thus, while social recognition of one’s altruism is desirable, one’s account with heaven is primary. Beyond these worldly calculations, however, an ethical claim is made upon the conscience. All such giving must be done with mindful selflessness; the Qurʾān tells us that kind words are better than alms followed by reproachful or hurtful words (Q 2:263–64).

The various pre-Islamic conceptions of virtue, which celebrated heroic notions of selflessness, hospitality, loyalty, and generosity, were important sources for Ṣūfī altruism. The great poets of pre-Islamic Arabia often boasted that they were unmatched in gift-giving; their friends were rewarded in good times, and the poor and hungry were sustained in times of need (Homerin, 67–9). The term *futuwwa* denoted this virtuous condition, which Ṣūfīsm appropriated early in its history. Al-Sulamī’s (d. 412/1021) *Kitāb al-futuwwa* (Book of chivalry) is replete with hagiographical stories of altruistic Ṣūfīs, while ʿAbdallāh al-Harawī (d. 481/1089) describes three levels of *futuwwa*. First, one abandons fractious quarreling, and forgets the faults and offences of others. Ascending to the second stage, one seeks reconciliation with estranged companions, and honours (without prejudice) those who have caused offense or outrage. At the third level, one seeks no reward for one’s generosity, forgives one’s enemies, and seeks neither apology nor retribution from those who have caused offence (al-Harawī, 84). Al-Harawī’s definition of Ṣūfī chivalry resonates well with the definition of altruism, which maintains that one can be selfless in relation to others and move toward an ethics in which the tensions and friction are removed from such calculations. Much of this selfless ethics was mirrored in the Persian concept of jawānmardī, which was also incorporated variously into the Ṣūfī tradition (Ridgeon, Morals and mysticism, 5–6; Ridgeon, Reading Ṣūfī history, 384–5).

Like the pre-Islamic image of the selfless hero, the Muslim figure of the Ṣūfī shaykh, often at significant personal risk, defended the poor and the exploited. Several examples can be enumerated. In the Egyptian context, Muḥammad al-Ḥifnāwī (d. 1181/1768) embraced his role as a defender of the masses; this became a central component of his profile as a saintly figure (Clancy-Smith, 152).

Interceding to protect victims of oppression might also require defending individuals higher up the social ladder. In 1201/1786, the Ottoman representative in Egypt, Ḥasan Pasha, took to openly extorting money and women from prominent Cairene families. The only successful resistance was mounted by a group of Ṣūfī shaykhs. Abū l-Anwār (d. 1228/1813) (Winter, 142), head of the Wafāʾiyya Ṣūfī order, Aḥmad al-ʿArūsī (d. 1208/1794) (Winter, 119–24), and Aḥmad al-Dardīr (d. 1201/1786), then head of the Khalwatiyya order in Egypt, banded together to march to the citadel and deliver a letter of protest to the ruler (al-Jabartī, 2:196).

Many a Ṣūfī *shaykh* was known for charity toward the hungry. The seventh/ thirteenth-century Maghribī saint, Abū Marwān al-Yuḥānisī, was famous for his generosity during the yearly celebrations of the Prophet's birthday (*mawlid al-nabī*), during which he typically fed the needy multitudes for eight consecutive days (al-Qashtālī, 105–7). In the same region, the Ṣūfī hagiographer Ibn Qunfudh (d. 810/1407) claimed that, for many Ṣūfīs, feeding the poor was essential to their spiritual discipline and training (Ibn Qunfudh, 23; Berque makes much the same point in regard to the Ṣūfī *zāwiya* [lodge] generally, see Berque, 127). In Cairo, the yearly saint day commemorating Aḥmad al-Dardīr has long been an occasion during which his *zāwiya* distributes significant alms to the poor, in the form of money and food (Waugh, 66). In Iran and India, the *langar* played much the same public charitable role (Papas, 23–4).

Such altruism not only benefits the needy, but is an organizing principle for the Ṣūfī's relationship to those in power with worldly possessions. In the Indian context, a twelfth-/eighteenth-century hagiography presents Bābā Palangpūsh's retort to the criticism that he spends too much time with the wealthy of this world:

> *I have been licensed and appointed by God—may He be exalted and glorified!—to make money from the wealthy for my visiting them, and bestow it upon the indigent. Truly the lion goes out in search of food after three days, when his hunger has grown. He does not set up his authority over lesser animals until he has brought a massive prey into his claws. After eating something, he leaves what remains for those beneath him like jackals and foxes and so on, and in his accustomed manner turns back to his rest!*
> *Digby, 61*

The shaykh likens his charity to the acquisitiveness of a predator who leaves scraps for the animals below him in the food chain. In the same period, an other Ṣūfī teacher explains that tradition calls on the shaykh to act simply as a conduit between the wealthy and the poor. This is reflected in the term faqīr (lit., 'impoverished'), a common term for Ṣūfīs in the Persian-speaking world. Bābā Musāfir, who was known for visiting the sick and helping widows in distress, declared, "A faqír should not own anything. If God … sends something from nowhere, he should spend it immediately. If anything remains, it is the custom of a faqír not to keep it with him … This has been the way of faqírs of former times" (Digby, 106).

Social assistance is also formalised through the institution of the waqf, or perpetual endowment. Here, wealth established permanent service institutions, typically for the poor, and in formalised Ṣūfī communities (Sabra in this volume). Waqfs can be found throughout the Islamic world, but given its size and wealth, Cairo was particularly well-endowed. Ribāṭs or Ṣūfī hostels were established in the Mamlūk period to house Ṣūfī communities, or to provide wider social services. One example, from the middle of the ninth/fifteenth century, was the Ribāṭ Zawjat Ināl, intended specifically to house destitute widows. Zaynab, the wife of Sultan Ināl (r. 857–65/1453–61) established the ribāṭ near the Ṣūfī zāwiya of the Sādāt al-Wafāʾiyya, and appointed Ḥusnāʾ (d. 888/1483) the daughter of one of the order's founding figures ʿAlī Wafāʾ (d. 807/1405) as its first director (McGregor, 58).

A much larger *waqf* had been established a century earlier by Sultan Baybars al-Jāshnakīr (d. 710/1310). This consisted of an assemblage of institutions that included a *khānqāh*, a *ribāṭ*, and a *qubba* funerary complex. The *khānqāh* provided housing for one hundred Ṣūfīs, who attended daily prayers and devotional exercises in return for a monthly stipend. The *ribāṭ* served as a hospice for one hundred Muslims, chosen from among the poor of the city, thirty of whom resided there; all received a monthly stipend, and a daily ration of bread and meat. Additional funds were earmarked for manumitting slaves, providing bail for poor Muslims in jail, providing shrouds for those who died destitute, and buying medicine for the poor (Fernandez, 24–7). In this configuration, charity was inseparable from the practice and institutionalisation of Ṣūfīsm. The charitable function of a *waqf* supported other types of religious activities. In the eleventh/seventeenth century, Shāhīn Aḥmad endowed a *sabīl-kuttāb* (public fountain and Qurʾān school) that included money in perpetuity to cover school fees, along with food and clothing, for students who were orphaned (Badr and Crecelius, 83). Another foundation provided for the needs of blind students studying at al-Azhar, and for local Muslim poor (Crecelius, 135).

Alongside the *waqf* and related charitable institutions, Ṣūfī theorists have explored altruism for its role in spiritual training. These reflections took place beyond the transactional relationship of divine reward and punishment; they focus instead on the transformative possibilities of selflessness. A prominent theme was that of begging, which was generally seen as beneficial for the Ṣūfī novice. Not all Ṣūfī *shaykh*s agreed, however, for example, Abū l-Ḥasan al-Shādhilī (d. c. 656/1258) forbade his followers from begging for alms. This position set a tone for his order, which expanded across the Islamic world and asserted its independence in part through its financial autonomy. Al-Shādhilī is reported to have worn fine clothes to signal his independence from worldly political powers (Ibn al-Ṣabbāgh, 98). Abū Saʿīd b. Abī l-Khayr (d. 440/1049), an early Persian Ṣūfī master, defended his wealth, saying that God put some Ṣūfīs at the station of contemplation (which includes wealth), and others at the station of mortification (al-Hujwīrī, 346).

Another prominent teacher claimed that, for some Ṣūfīs, service to their shaykh and the community is more beneficial to their spiritual training than any of the supererogatory devotions Ṣūfīs were famous for. This was the context in which Abū l-Najīb al-Suhrawardī (d. 563/1168) said, “Service (khidma) is a rank second only to that of shaykhood” (Ohlander, Ṣūfīsm, 207). Al-Suhrawardī’s position on begging, however, recognised the multiple levels at which khidma operated. He allowed it for his followers on two conditions: when it benefited fellow Ṣūfīs, and when the Ṣūfī him/herself was in need. He supported this with the rationale that begging restrained the pride of one’s ego (al-Suhrawardī, 71). Since disciplining the ego is a central concern in mystical training, the humiliation concomitant with begging could be a useful tool in a Ṣūfī’s training. The Khurāsānī Ṣūfī master Abū Naṣr al-Sarrāj (d. 378/988) relates a number of stories in which adepts were enjoined to beg, in order to decrease their pride and arrogance (al-Sarrāj, 191–2). The influential Ṣūfī author al-Hujwīrī, popularly known as Dātā Ganj Bakhsh (d. c. 467/1074), relates stories from early Ṣūfī history on the usefulness of begging as an exercise in self-effacement. Begging should be done for the sake of discipline, not for profit; thus, aspirants curb their egos by learning that they are nothing in the eyes of others (al-Hujwīrī, 360).

The third dimension of altruism continues with this focus on inner benefits. More precisely, the ultimate import of īthār is that it bridges the divide between the seeker and the divine. Al-Harawī lists the three levels of preference that culminate in a transcending of the self. At the first level, īthār is manifested as preferring others, respecting their rights, and aspiring to noble acts, generally. This is followed by a level at which the seeker prefers God’s satisfaction above all others, even if that entails burdens of poverty or his own anguish. At the last stage, ‘preference’ as we normally understand it, is abandoned, since it preserves the distance of the subject-object relationship. Rather than struggling to discern God’s preference, and exerting oneself in its pursuit, the boundaries break down, and the Ṣūfī leaves behind that very struggle (al-Harawī, 44–5).

Al-Hujwīrī identifies the school of Abū l-Ḥusayn al-Nūrī (d. 295/907), associated with al-Junayd’s school of ‘sober’ Ṣūfīsm, as one that is centrally concerned with the concepts of companionship and altruism. For al-Nūrī, the Ṣūfī path was a place shared by a community (although some teachers would disagree with him) and thus retirement (*ʿuzla*) is an inferior and even baleful practice. In an echo of the Neoplatonists’ struggles against the lower self, with its worldly desires and appetites, for al-Nūrī, Ṣūfī altruism is the key to proper conduct, and thus the key to eternal life. But beyond the rewards of paradise, which are predicated on distance between the individual and God, a higher altruism leads to union with the divine, and a collapsing of that distance (al-Hujwīrī, 189–93).

To illustrate the depths of Ṣūfī preference, the story is told of a convert to the Ṣūfī path, Aḥmad Ḥammadī. Inspired but discomfited by the Qurʾānic verse, “They prefer them to themselves, although they are indigent” (Q 59:9), Aḥmad had set off into the desert with his camels, intent on staying as long as needed to attain to some insight.

He tells of a hungry lion that killed one of his camels, but rather than eating it, the lion withdrew to a nearby high ground and roared. Foxes, jackals, wolves, and others gathered to eat, but the noble lion kept his distance until they had eaten their fill. Then he approached the remains with the intention of satiating his hunger, but seeing a lame fox on the horizon, the lion withdrew again until the unfortunate fox had eaten. After eating what was left of the kill, the lion turned to Aḥmad and said, “Even a lowly dog can prefer others over itself in the matter of food; but a great person sacrifices even in matters of spirit, and life itself” (al-Hujwīrī, 193). The lion’s lesson for Aḥmad clearly points beyond any calculation or reward for one’s altruism, and toward one’s spiritual orientation on the mystical path.

Al-Nūrī himself embodied this insight in his own saintly acts. One day the caliph was set to execute three Ṣūfīs for heresy and al-Nūrī stepped forward to offer himself to the executioner, saying,

> *Yes, my doctrine is founded on preference (īthār). Life is the most precious thing in the world: I wish to sacrifice for my brethren’s sake the few moments that remain. In my opinion, one moment of this world is better than a thousand years of the next world because this is the place of service (khidma) and that is the place of proximity (qurba), and proximity is gained by service.*
> *al-Hujwīrī, 191*

In a subsequent exchange with the chief judge, al-Nūrī won mercy for the Ṣūfīs by describing their intimate connections with God. After he exonerated them, the caliph asked them what they would like from him, to which they responded, “The only boon we ask of thee is that thou shouldst forget us, and neither make us thy favorites nor banish us from thy court, for thy favour and displeasure are alike to us” (al-Hujwīrī, 191). Thus, al-Nūrī’s path of īthār not only signals indifference to the material things of this world, but also that such selfless indifference gives meaning to proximity with God—the goal of all Ṣūfīs in both this life and the next.

The Maghribī Ṣūfī saint, Abū l-ʿAbbās al-Sabtī (d. 601/1205) represents another model of sanctity connected to altruism. Inspired by the Prophet’s Sunna, and Qurʾānic passages, including “They prefer them to themselves, although they are indigent” (Q 59:9), he concludes that *īthār* is an essential part of the Prophet’s legacy. Al-Sabtī resolved to put it into practice, in his life and teachings; he vowed to only ever accept one-seventh of any gift ever given to him, and to leave the rest to his fellow Ṣūfīs and the poor. He notes that after decades of practicing this altruism, his spiritual capacities were greatly increased. Whatever the saint’s thoughts resolved upon, inevitably came to pass. Whenever he called on God, the divine voice would immediately attend to him, announcing *labbayka*—here I am, at your service! (al-Tādilī, 460).

The tri-fold structure of altruism that has emerged from this survey closely mirrors the observations that we can make of the Ṣūfī treatment of other key concepts. For example, we can see in the concept of tawakkul (complete trust in God) much the same dynamic—of a movement from a preliminary transactional level, to a spiritually reflective position—that turns toward the self, and ultimately to a mystical harmonisation of the individual with the divine (al-Tustarī, 104–5). It should come as no surprise that we can find a similar progression in the early Ṣūfī conceptions of asceticism (zuhd). The Ṣūfī master of Baghdad Abū Saʿīd al-Kharrāz (d. 286/899) identified three dimensions, the highest of which transcends any transactional reward, bringing the seeker into an all-encompassing love and submission to the divine (al-Kharrāz, 43).

इसकरंग

Shaheen Shaikh

जा तेन्नूइशक होवे... कोववड केदौर मेंजब चारो ओर विराशा केबादल छाए हुए थे। मायूसी और बदगुमिी का ददलों पर पहरा था। तब उम्मीद का चचराग़ जलाए सूफ़ी सीरीज़ हमारी जजिंदवगयों मेंदाख़िल हुई। मिो जैसेहमेंकै द सेआज़ाद करि, हमारे बेजिा परों मेंजिा फूं कि। हम अपिी मि क़ी गहराई मेंडूबते, तैरतेऔर पार होते। वफर मि मेंवहम्मत और पंखों मेंजज़िंदगी चलए हम ऊँ चे-ऊँ चेउड़तेगए और अब मोहब्बत क़ी वो उड़िा परविा चढ़ रही है। बाबा फरीद क़ी दुआ - "जा तेन्नुइशक होवे", रंग ला रही है, अपिा असर ददखा रही है।

पराधिीता पाप हैजिा लेहू रेमीत,
"रैदास" दास पराधि सों किौ करेहैपीत

इस दुविया मेंचाहेवो इंसिा हो केदरख़्त, चचवड़या हो केवबल्ली या कोई और जीव, सबको आज़ादी सेसांस लेिका हक है! अपिी पसंद क़ी वकताब पढ़िका हक है, अपिी मज़ी का काम करिका हक, चि-गिो, जश्न मिोका हक है, प्रेम करि का हक।

हमि हैइश्क मस्तिाा, हमि को होचशयारी क्या~ कबीर

प्रेम और आज़ादी एक दूसरे के पर्याय भी हैं और पूरक भी जहाँ आज़ादी नहीं वहाँ प्रेम हो ही नहीं सकता। आज़ादी, छुआछूत, ऊँच-नीच, और ज़ात-पात की ग़ुलामी से। ग़ुलाम होना या ग़ुलाम बनाना पाप है, गुनाह है। मालिक और गुलाम कभी एक नहीं हो सकते और प्रेम का मतलब तो एक होना है। ख़ुदा के इश्क़ में बंदे से ख़ुदा होना है।

कबीरा इश्क का नाता, दुई को दूर कर दिल से।

आप ख़ुद इश्क़ हैं, इश्क़ में हैं, इश्क़ ही को पाने के लिए। यहाँ दो जैसा कुछ नहीं, एक है। दुआ भी इश्क़ और दुआ को कुबूल करने वाला भी। कोई साज-ओ-सामान नहीं, कोई बोझ नहीं। बस एक इश्क़, बस आज़ादी और आज़ादी के एक मानी अंतर्मन की जागृति भी होती है। जिसकी हिफाज़त करने में तमाम सूफ़ी संतो ने बग़ावत मोल ली। अब मोहब्बत है तो बगावत तो लाज़िम है।

मैं राधा नहीं जो वृंद्धावन में बैठी राह देखूंगी, निकल जाऊंगी जिस तरफ भी बाँसुरी की धुन सुनाई दी। मीरा के विद्रोही तेवर ने उस समय के समाज को हिला के रख दिया। पति को परमेश्वर माने जाने वाले समाज में मीरा ने पति के धर्म को अपना धर्म नहीं माना, बहुभोज के नाम पर पशु बलि को महाप्रसाद कहे जाने वाले बरहमन ख़्याल की मुख़ालिफ़त की, ज़ात-पात के बंधनों को तोड़ते हुए रैदास को अपना गुरु माना। मायके से ससुराल, ससुराल से दर दर फिरती ख़ुदमुख़्तार और जाँबाज़ मीरा, मेवाड़ से मेड़ता, फिर मालदेव से अजमेर, द्वारका और जाने कहाँ-कहाँ फिरती रहीं। मीरा की ज़िन्दगी एक लंबा सफ़र रही जो मीरा ने बिना रुके, बिना थके, बहादुरी, बेबाकी, बेखौफ़ हो कर फ़क़ीराना अंदाज़ से तय किया और इस सफ़र में उलफ़त उसकी रहबर और निगहबाँ रही।

हे री मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय ~ मीरबाई

आलम ए ख़्वाब में खोई लैला
चिराग़ ए हसरत जलाती है
मदहोश दामन ए शमा छोड़
ख़ुद परवाना हो जाती है

अंगारों पर चलते हुए कोई किस तरह मुस्कुराता है? ज़ख़्मी दिल किस तरह ख़ुशी के गीत गाता है? हब्बा ख़ातून की ज़िंदगी दम ब दम बेशुमार तकलीफ़ से भरी रही। पाँव में काँटे चुभते रहे और लब मोहब्बत के नग़मे गाते रहे। जिसकी ज़िंदगी फ़िक्र-ओ-ग़म की कभी न ख़त्म होने वाली दास्तान रही। फिर वो अपने कलामों में फूलों की सी महक और नूर-ए-महताब की सी नरमी किस तरह ला सकी होगी? कड़वाहट में भी ये आवाज़-ए-बुलबुल गूंज उठी और दोनो आलम को रूमानियत और मोहब्बत से भर दिया।

राँझा राँझा कर दी नी मैं आपे राँझा होई
राँझा मैं विच्च मैं रांझे विच्च होर ख़याल ना कोई ~ बुल्ले शाह

कृष्ण भये राधा और राधा भई कान्हा। प्रेम में राधा का कान्हा और कान्हा का राधा होना उतना ही सहज है जितना परिंदों का उड़ना और झरनों का बहना। शिव शक्ति समागम इतना कुदरती है के जैसे सूरज का निकलना और साँस का चलना।

बेद कुरानां पढ़ पढ़ थक्के
सिजदे कर दियां घस गए मत्थे
न रब्ब तीरथ न रब्ब मक्के
जिस पाया तिस नूर अनवार
इश्क़ दी नवियों नवीं बहार ~ बुल्ले शाह

वो जो रूह ओ दिल में रचा बसा है, वो जिसके होने का अहसास हर साँस के साथ होता है, वो जो सदा रहने वाला है उससे अलाहिदगी कैसी? वो जब हरसु पास है तो बेक़रारी कैसी? प्रेम में विरह भी है और विरह में ही मिलन। सूफ़ी संत प्रेम की एक झलक के लिए तड़पता भी है और उसका प्रेम ख़ुद उसी में बसता भी है। कमाल थे ये लोग, आत्मज्ञान या ख़ुद की खोज का हवाला दे कर संसार को त्याग नहीं दिया, हिमालय पर जा नहीं बसे बल्के अपने काम में अपने ख़ुदा को ढूंढा, जहाँ-जहाँ कदम रखते वहाँ-वहाँ मेहनत से लगन से मोहब्बत के बीज बोते जाते।

या अल्लाह अगर मैं जहन्नुम की आग के डर से
तेरी इबादत करूँ तो मुझे उसी आग में जला दे
अगर मैं जन्नत की हसरत में तेरी इबादत करूँ
तो मुझे जन्नत से ख़ारिज कर दे
लेकिन मैं तेरी इबादत ख़ुद तेरी ही मोहब्बत में करूँ

तो मुझे अपने नूर से दूर न कर - "बेतरह राबिया", एक तपस्विनी, बाग़ी और प्रेम दिवानी। इराक़ में जन्मी एक सादा और बेहद आम औरत जिसने अपने अनोखे अंदाज़ और बेख़ौफ़ जज़्बे से दुनिया जहान की औरतों के लिए एक मिसाल क़ायम की। राबिया अल्लाह की मोहब्बत में गाने गाती, दिनभर मेहनत करती और रात को इबादत और फिर वो हुआ जो हर उस शख़्स के साथ होता है जो ज़माने के बनाए रस्म-ओ-रिवाज की नाफ़रमानी करता है। दुनिया के ज़ुल्म-ओ-सितम से उसकी मोहब्बत और गहराती गई। वो जुनून-ओ-इश्क़-ए-ख़ुदा की राह निकल पड़ी। वो जहाँ से भी गुज़रती उसके पीछे-पीछे लोगों की भीड़ चल पड़ती। न वह शहज़ादी थी ना मलिका बल्के माशरे ने एक मुक़म्मल औरत होने का जो मयार तय किया है उसमे तो वह किसी भी लिहाज़ से फिट नहीं बैठती। गोरा रंग ख़ूबसूरती है सो को काली थी, ऊँचा ख़ानदान होना चाहिए सो वो ग़ुलाम थी, औलाद पैदा करने के क़ाबिल होनी चाहिए सो वो बाँझ थी। फिर भी ये मोहब्ब्त का जादुई असर ही है कि आज तक़रीबन 1300 साल बाद भी हिंदुस्तान, इराक, ईरान, इंडोनेशिया, इजिप्ट, सीरिया, अरब, अफ़ग़ानिस्तान, और पाकिस्तान के सिंध और पंजाब के घरों में माँ-बाप इस उम्मीद से अपनी बच्चियों के नाम राबिया रखते हैं के उसका कुछ असर उन पर भी हो रहे। सूफ़ी संत वाक़ई अंतर्मन से पूरी तरह जागृत थे। उनकी ज़िंदगी एक हैरतअंगेज़, जादुई, रूमानी सफ़र रही जिसका असर आज तक हमारे वजूद से हट नहीं सका।

झाड़लोट करी जनी
केर भरी चक्रपाणि- जनाबाई झाड़ू लगाती हैं और उसका विट्ठल कचरा उठाता है।
रानागेली शेणी साठी
मागे विट्ठल धावे पाठी- जब जनी ईंधन या गोबर बटोरने जंगल जाती है तो उसका भगवान विट्ठल भी उसके पीछे दौड़ा आता है।
जनी सांगे सर्व लोका

न्हाऊँ घाली माझा सखा- जनी सबको बताती है के उसका सखा विट्ठल उसे नहलाता है। कई सूफ़ी संत हुए जिन्होंने प्रभुभक्ति में डूब कर ख़ुद को एक स्त्री रूप में भी महसूस किया। कबीर ने ख़ुद को राम की बहुरिया कहा, मुर्शीद से जुदाई में तड़प उठे बुल्लेशाह ने स्त्री का भेस धारण कर नाच नाच के अपने यार को मनाया, मीरा ने कृष्ण को आराध्य बना लिया, रूक्मिणी ने पति तो राधा ने प्रेमी। प्रभु भक्ति में प्रभु को पति, प्रेमी या आराध्य बनाने की परम्परा सदियों से चली आ रही थी। मगर जनाबाई का प्रेम कुछ अलग था। उसने अपने विट्ठल को प्रभु, प्रेमी या पति नहीं बनाया। बल्के उसका विट्ठल तो उसका सबसे प्यारा दोस्त था। जो ज़रूरत पढ़ने पर फट से दौड़ता हुआ उसके पास चला आता है। उसके कामों में उसका हाथ बटाता है। भक्त प्रभु की सेवा में दिन रात लीन रहते हैं मगर यहाँ तस्वीर कुछ और है। यहाँ तो विट्ठल जनाबाई की सेवा में रहता है, हर पहर उसकी संगति में रहता है, उसे आलिंगन देता है लेकिन उसके प्रेम को शरीर-आसक्ति छू भी नहीं पाती। ये कितना ख़ूबसूरत ख़्याल है ना के आपका ख़ुदा, आपका इश्वर, कुछ और नहीं, कोई और नहीं बल्के आपका सबसे प्यारा दोस्त है जो आपसे अपनी सेवा या पूजा नहीं करवाता बल्के रोज़मर्रा के कामों में आपका हाथ बटाता है। वो कभी आपका रहबर है तो कभी निगहबान।

ग्रंथ गड़बड़ करी वात न करी खरी
जेने जे गमे तेने पूजे
मनक्रमवचन थी आप मानी ल्ये

सत्य छे एज मन एम सूझे- नरसी कहते हैं के ग्रंथ ने सब गड़बड़ कर डाला। जो सच्ची बात थी, खरी बात थी वो तो किसी ने कही ही नहीं। जिसको जिसे पूजना है पूजे मगर मन से, रूह से, वचन से, खरे रहें सच्चे रहें।

शूं थयु तप ने तीरथ कीधा थकी?
शूं थयु माल ग्रही नाम लीधे?
शूं थयु तिलक ने तुलसी धार्या थकी?
शूं थयु गंगाजल पाण कीधे?

क्या हुआ तप-तीरथ करते रहने से, माला जपने, तिलक लगाने, तुलसी पहनने, और गंगाजल पीने से? जब तक प्रेममग्न न हुए, अंतर्मन जागृत न हुआ तब तक ज़िंदगी का सार समझ नहीं आएगा। "वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ परायी जाणे रे"। रब का बंदा वो है जो दूसरे के दर्द को समझे। महात्मा गांधी की सारी ज़िंदगी की तमाम सीख का मूलभूत आधार, बुनियाद नरसी मेहता का लिखा ये गीत रहा।

चिश्ती ने जो दी थी मय वो अब तक है पैमानों में
नानक की तालीम अभी तक गूंज रही है कानों में

ख़्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती का मज़हब मोहब्बत की वो ज़मीन है जहाँ आफ़ताब-ए-अख़लाक पुरनूर है। फ़राख़दिली नदी की तरह कल-कल बहती जाती है। आदर, सत्कार व उदारता, हवाओं और फिज़ाओं में रचा-बसा है। चिश्ती का ये ख़्याल, इस ख़्याल का असर गुरुनानक की दी तालीमात में भी दिखता है। और इसी पैग़ाम को ले कर गुरुनानक चल पड़े एक लंबे सफ़र की तरफ़। आवाज़ हो लेकिन साज़ नहीं ये तो मौसीक़ी के साथ ज़्यादती हुई। सफ़र की बात करें लेकिन हमसफ़र की नहीं ये भी कोई बात हुई। सफ़र दर सफ़र मुसलसल अपनी आख़िरी साँस तक जो गुरुनानक के हमसफ़र रहे वो कोई और नहीं भाई मरदाना ही तो थे। गुरुनानक बड़े प्यार से भाई मरदाना से रबाब सुना करते। कभी सोचा है गुरुद्वारे में कबीर और रैदास के दोहे अनायास ही कानों में क्यों पढ़ जाते हैं? मरदाना रबाब बजाने की कला में तो निपुण थे ही साथ वह उन्हें कबीर और रैदास के दोहे गा गा के सुनाया करते। गुरुग्रंथ साहिब में रैदास और कबीर के कई दोहे शामिल है इसके अलावा बाबा फ़रीद के भी 134 शबद शामिल हैं। कितनी ख़ूबसूरत, कितनी मज़बूत बुनियाद है हिंदुस्तान की सरज़मीं की, इतनी मुहब्बत के यहाँ गुजरात के नरसी मेहता और शाह आलम के दिल इस क़दर एक तार में बंध जाते हैं के उनके मरने के लगभग 500 साल बाद भी उनकी दोस्ती की मिसाल दी जाती है। सुना है जो कोई फ़र्द शाह आलम की दरगाह पर दीए जलाने जाता है वो पहले नरसी भगत के नाम का दीया जलाता है। मुस्लिम परिवार में जन्मे मरदाना गुरुनानक के बचपन और ज़िंदगी भर के साथी बन जाते हैं।

पलटू प्रेमी नाम के सो तो उतरे पार
कामी क्रोधी लालची बूड़ी मुए मँझधार।

पलटू के लिए नहीं था
अयोध्या के पास घर
जबकी बहुत कुछ था उस समय अयोध्या में
एक प्रेम के घरौंदे के सिवा
छोटा सा पोखरा था
राम के दातुन करने के लिए
सीता की नहानी थी
और एक भवन था महल नुमा
कैकई के क्रोध जताने के लिए
अगर कुछ नहीं था अयोध्या में
तो एक अदना सा घर
जिसमें एक जोगी रह सकता सकुशल
प्रेम का दीया बालकर
बुज़ुर्ग और सयाने लोग बताते हैं
अपनेपन के पिंजड़े में क़ैद
उस अनिकेतन जोगी को
भोले भाले लोगों पर
प्रेम का बाण चलाने के लिए
सजा मिली थी यहीं अयोध्या में
मगर घर नहीं मिल सका
तब अयोध्या में बहुत सारे लोग रहते थे
जो कुछ बेहतर की आवाजाही से थे बेख़बर
साध्वियों और बैरागियों के इस शहर में
कुछ महात्माओं ने धरा जब पलटू को
तब तक अयोध्या में
जलते रहे थे मठ मंदिरों में दीए
मगर बुझ गई थी उस समय
इस शहर मेंआस लगाने की पुकार
पलटू भी रहना चाहते थे यहाँ
इसे अयोध्या जान ही नहीं पाई उनके रहते
वे अपना ढाई अक्षर का घर बसाना चाहते थे
यहाँ की सँकरी तंग गलियों में घूमकर
राम के साम्राज्य से अलग
एक कुटिया की आस जोहते
वह जब से विदा हुए अयोध्या से
तब से आज तक वह प्रेम का बाण
बिंधा हुआ है आर पार
इस शहर के सीने में~ यतींद्र मिश्र

मोहब्बत की आवाजों को आख़िर दबाने की ज़रूरत क्यों पड़ जाती है? आख़िर क्यों चंद लोग अमन के पैग़ामों को कुचल देना चाहते हैं? और क्या जला के ख़ाक कर देने से या गोली मार देने से इश्क़ फ़ना हुआ है? हो सकता है? हरगिज़ नहीं! कोई 100 बार जलाए, 100 हज़ार या 100 लाख बार जला डाले, ये ढाई अक्षर का घर बार बार बनाया जाता रहेगा और चिराग़-ए-उलफ़त रौशन किया जाता रहेगा।

सूफी संत अमीर खुसरो का राष्ट्रीय चिंतन

Dr. Jang Bahadur Chaturvedi

अमीर ख़ुसरो के बचपन का नाम अबुल हसन् यमीनुद्दीन मुहम्मद था। यह नाम इनके पिता ने इन्हें दिया था, जो बहुत ही निडर थे। अमीर ख़ुसरो को बचपन से ही फारसी में शायरी करने का शौक था। अमीर ख़ुसरो ने धार्मिक संकीर्णता और राजनीतिक छल कपट के उथल–पुथल से भरे माहौल में रहकर हिंदू–मुस्लिम एवं राष्ट्रीय एकता, प्रेम, मानवतावाद और सांस्कृतिक समन्वय के लिए पूरी ईमानदारी और निष्ठा से काम किया। हज़रत अमीर ख़ुसरो ने तेरहवीं–चौदहवीं सदी में आज की खड़ी बोली हिन्दी का 'हिन्दवी' के रूप में सूत्रपात किया। इस भाषा का नामकरण भी स्वयं अमीर ख़ुसरो ने किया।

ख़ुसरो एक ऐसी समन्वित संस्कृति की उपज थे जो भारतीय जन–जीवन तथा भारतीय परिवेश के अन्न–जल से निर्मित संस्कृति कही जाती है। भारत की भाषाएं, भारत के धर्म, भारत का प्राकृतिक वैभव, नदी, वन, पर्वत, भारत की वस्तुऐं तथा भारतीय वातावरण से उनका गहरा लगाव था। वह भारत को अपना देश, प्यारा वतन मानते थे। अमीर ख़ुसरो ने इस देश की संस्कृति को जीवन से पृथक किसी आदर्श विशेष का अनुसरण करने वाली संस्कृति न मानकर पवित्र आचरण और उदात्त मूल्यों की संस्कृति के रूप में ग्रहण किया था। हिन्दू और मुसलमान, संस्कृत और फारसी, धर्म और आध्यात्म सब के भीतर एक समन्वय और संयोजन ढूढ़ना उनका स्वभाव था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि ख़ुसरो अपने समय में भारतीय समन्वित संस्कृतिक के उदात्त आदर्शों वाले बहुमुखी व्यक्तित्व के नेता बन सके । ख़ुसरो का भारत–प्रेम–स्वदेश प्रेम की उस गौरव गरिमा से मंडित है जिसे पढ़कर किसी भी हिन्दुस्तानी के मन में आत्म गौरव का भाव जागृत हो सकता है। उन्होंने लिखा है कि **भारत संसार के सब देशों से श्रेष्ठ और खुरासान, कंधार, रोम और ईरान की अपेक्षा अत्यधिक सुन्दर है। भारत के फल, भारत के नर–नारी, बच्चे, भारत के पशु–पक्षी सब अद्वितीय हैं। उनकी तुलना किसी और देश से नहीं की जा सकती। भारत तो स्वर्ग से भी रमणीय स्थान है। भारत का पक्षी मोर अपनी सुन्दरता में अप्रतिम है।** वास्तव में अमीर ख़ुसरो को इस बात का गर्व है कि उनका जन्म भारत जैसे एक विशाल और सुन्दर देश में हुआ। हिन्दुस्तानी संस्कृतिक के प्रति ख़ुसरो के मन में आगाध प्रेम था।

हिन्दुस्तान उनकी जन्मभूमि थी, यहीं वे परवान चढ़े, यहीं उनके हृदय के कवि दार्शनिक और संगीतकार ने आहिस्ता–आहिस्ता लोगों के दिलो–दिमाग़ पर हुकूमत करने की ताक़त पैदा की। यहीं उन्होंने अपने पीर ख़्वाजा निज़ामुद्दीन औलिया के क़दमों में जगह और हमेशा–हमेशा की राहत पाई। चुनाँचे उनका अपने इस वतन से गहरा लगाव था। ख़ुसरो कहते हैं –

आनस्त यकी कीं ज़मीं अज़ दौर–ए–ज़मन
हस्त मरा मौलद – औ – माव – ओ – वतन [1]

(अर्थात् मुझे यकीन है कि यह ज़मीन ज़माने के लिहाज़ से मेरा जन्म स्थान, परवान चढ़ने की जगह और वतन है।)

खुसरो को एक ओर जहाँ भारत भूमि के सौंदर्य पर गर्व था वहीं दूसरी ओर इस विशाल देश की संस्कृति को वह विविध धर्मो एवं आदर्शो की उच्चतम संस्कृति मानते थे। ख़ुसरो केवल कवि या संत ही नहीं वरन वह एक सद्गृहस्थ, परोपकारी, सामाजिक व्यक्ति भी थे। समाज के प्रति अपने कर्तव्य का उन्हें पूरा बेाध था और उसके निर्वाह के लिए वह सदा कष्ट उठाने को भी तत्पर रहते थे। अमीर ख़ुसरो के जीवन की विविध घटनाओं, कार्यों, उनके द्वारा रचित ग्रंथों व साहित्य और पांडित्यपूर्ण प्रयासों के आधार पर यदि उनका आकलन किया जाए तो कुछ ऐसे तथ्य और निष्कर्ष निकलते हैं जिसके आधार पर हम ख़ुसरो को केवल कवि या साहित्यकार न मान कर संत, या महामानव और महाप्राण इंसान कह सकते हैं। जिन सम–विषम परिस्थितियों में अमीर ख़ुसरो ने अपना जीवन व्यतीत किया वह तो वैविध्यपूर्ण हैं ही किन्तु उनके जीवन की सफलता इस बात में है कि वह निरन्तर हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी जनता के कल्याण के मानवीय नेक कार्यों में लगे रहें। काव्य और गद्य के माध्यम से एक ओर ख़ुसरो ने लोकरंजन किया तथा भाषा और साहित्य को उन्नत किया तो दूसरी ओर धर्म तथा अध्यात्म की प्रेरणा से लोक मंगल का उदान्त आदर्श भी प्रस्तुत किया। भारतीय समन्वित संस्कति के प्रतीक पुरूषों में अमीर ख़ुसरो का नाम हिन्दुस्तान के इतिहास में सदा स्वर्ण अक्षरों में अंकित रहेगा। ख़ुसरो सच्चे अर्थो में संत, क्रांतिदर्शी, कवि, साहित्यकार और महामानव थे।

अमीर ख़ुसरो मुसलमान तुर्क होते हुए भी दिल से पक्के हिन्दुस्तानी थे। उन्हें हिन्दुस्तान और यहाँ की संस्कृति से गहरा लगाव था। उन्होंने हिन्दुस्तान में जो कुछ देखा, परखा, पाया और भोगा वह सब उन्हें बहुत ही अच्छा लगा। इसकी बानगी उनके फारसी और हिन्दी साहित्य में मिलती है जहाँ उन्होंने जी खोलकर हिन्दुस्तान की प्रत्येक वस्तु, यहाँ की प्रकृति, जलवायु, मनुष्य और उनके जीवन की प्रशंसा की है। ख़ुसरो कहते हैं –

बहिश्त–ए–फर्ज़ कुफन हिन्दोस्तारा
कज़ आन्जा निसबत अस्त ईबोस्तारा [2]

अर्थात् हिन्दुस्तान को एक बहिश्त(स्वर्ग) मान लो क्योंकि आसमान की जन्नत से इस बाग़ का संबंध है। हिन्दुस्तान धरती का स्वर्ग क्यों है ? अमीर ख़ुसरो ने अपनी रचना नु:सिपेहर में इसकी सात दलीलें पेश की है। पहला कारण यहाँ की बेहतरीन आबोहवा है। ख़ुदा ने हज़रत आदम को उनका कहना न मानने की सज़ा में ख़ुरासान, अरब या चीन न भेज कर हिन्दुस्तान ही भेजा क्योंकि स्वर्ग में रह लेने के बाद वे इन मुल्कों की गर्मी और ठंडक बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। ख़ुसरो कहते हैं –

गश्त मुहक्क़क़ बचुनीं वस्पक–ए–मतीं
कीं हमः हिन्दस्त चु फ़िरदौस–ए–महीं [3]

(अर्थात् इस वज़नी दलील से यह साबित हो जाता है कि सारा हिन्दुस्तान एक बड़ी जन्नत की मिसाल है)

हिंद चू अज़ ख़ुल्दनिशा बूद दरू
ज़े–अम्र–ए–ख़ुदा यश आसूद दरू [4]

अर्थात् चूँकि हिन्द अपने अन्दर जन्नत की खूबियाँ रखता था इसलिए ख़ुदा के हुक्म से उसने (आदम ने) अपने कदम यहाँ टिका दिए। दूसरा कारण इस देश में स्वर्गीय पक्षी मोर का पाया जाना है।

ख़ुसरो की नज़र में यह लगाव दुनिया में इन्सानियत की बुनियाद है, अच्छे नागरिक की पहचान है, धर्म का जरूरी हिस्सा है, फिर रसूल अल्लाह हज़रत मुहम्मद की हदीस भी है –

वीं ज़े रसूल आमदेः किः जूमर – ए– दीं
हुब्ब – ए – वतन हस्त ज़े ईमां बः यकीं [5]

अर्थात् दीन के सिलसिले में रसूल ने यह फरमाया है कि वतन की मुहब्बत यकीनन ईमान का हिस्सा है। इसलिए वतन की मुहब्बत ख़ुसरो के लिए भी ईमान का हिस्सा बन गई। यह बड़े महत्व की बात है कि इस मुसलमान हिन्दुस्तानी तुर्क अमीर ख़ुसरो ने बड़ी हिम्मत के साथ डंके की चोट पर हिन्दुस्तान को दुनिया के दूसरे देशों रूम, इराक, ख़ुरासान, बल्ख़, बुख़ारा, कंधार, समरकंद आदि पर तरजीह दी है और इस मुल्क को धरती का स्वर्ग कहकर अपनी भारतीयता को दिल से सराहा है –

किश्वर–ए–हिंद अस्त बहिश्ती ब ज़मीं [6]

(अर्थात् हिन्दुस्तान का मुल्क इस दुनिया में जन्नत है।)

गर न बहिश्त अस्त हमीं हिंद चिरा
अज़ पए ताऊस–ए–जिनां गश्त सरा [7]

अर्थात् अगर यह बहिश्त नहीं है तो जन्नत के मोर के लिए यह सराय क्यों बनता? ख़ुसरो का कहना है कि अगर हिन्दुस्तान को स्वर्ग मानने में सन्देह है तो मेरी तीसरी दलील आसमान के बाग जन्नत से मोर और साँप का यहाँ आना है। यह कहीं और जाता तो बुरा होता। यहाँ आने के बाद उसे अपनी फ़िरदौसी मंज़िल मिल जाती है –

गर वतन अज़ हिंद हासिल–ए–ऊ
बाज़ ब फ़िरदौस शुदी मंजिल–ए–ऊ [8]

अर्थात् अगर हिन्दुस्तान उसका वतन हो जाए तो वह गोया दोबारा जन्नत का मकीं रहने वाला बन जाएगा। चौथा कारण यह है कि जब हज़रत आदम ने हिन्दुस्तान के बाहर अपना कदम रखा तो हव्वा की जुदाई से वे बहुत परेशान हुए। अपने इस नए सफर में दो–तीन दिन के बाद शाम नामक नगर पहुँच गए और दमिश्क के रेगिस्तान में अपना जन्नत का खाया–पिया निकाल दिया, जिसका तल टीला बन गया। जन्नत में और ख़ुद हिन्दुस्तान में उन्होंने ऐसा नहीं किया –

गरचेः किः आं नेअमत–ए–फ़िफरदौस बुदश
दर ज़मीन –ए– हिंद निशानद न शुदश [9]

अर्थात् अगरचे जन्नत की नेअ़मत उनके साथ थी इसलिए उन्होंने उसे हिन्दुस्तान की ज़मीन पर नहीं निकाला।

बुर्द गुमां कानस्त मगर खुल्द–ए–दिगर
बद बुवद इन्जा ज़े चुनां मायेः असर [10]

(अर्थात् उनको यह ख़्याल हुआ कि वह दूसरी जन्नत है इसलिए ऐसी चीज़ को यहाँ बाहर निकालना बुरी बात होगी।)

गर न बहिश्त अस्त हमः हिंद चिरा
दर हदश आ बार नयुफ़्ताद रवा [11]

अर्थात् अगर हिन्दुस्तान जन्नत नहीं होता तो उन्होंने इसकी हदों में इस बोझ को उतारना क्यों मुनासिब न समझा होता। पाँचवी दलील के संबंध में ख़ुसरो ने लिखा है कि मुल्क–ए–शाम का नगर दमिश्क ख़ुशहाली और जलवायु की दृष्टि से यद्यपि ज़मीन पर जन्नत का एक नमूना मालूम होता है लेकिन आदम ने अपनी अक़्ल से यह महसूस किया कि इसमें जन्नत की पूरी कैफियत नहीं है। वहाँ के वातावरण और हवा का यह असर पड़ा कि जन्नत का खाया–पिया वहाँ उनको निकालना पड़ा। जब आदम हिन्दुस्तान आए तो यहाँ की वायु, सुगंध, हरियाली और शादाबी को बहुत पसन्द किया। क्योंकि उन्हें यहाँ वही ताज़गी और अनूठापन दिखाई दिया जो आसमान की जन्नत में था और क्यों न हो कि –

हिंद हमः साल किः गुलरूई बुवद
जी बुवद ओ गुल हमः खुशबूई बुवद [12]

(अर्थात् हिन्दुस्तान साल भर फूलों से भरा रहता है। यह लबाबल भरा रहता है और इसके फूल तरह–तरह की ख़ुशबुओं से महकते रहते हैं।)

नै चु रय–ओ–रूम किः गुल नीस्त दरां
जुज़ दुसिः माही किः दर आयद गुजरां [13]

अर्थात् रय और रूम की तरह नहीं कि जिन देशों में फूल दो–तीन महीने के लिए ही खिलते हैं।

वां हमः जां सां किः गुल–ओ–लाला–ए–शां
बूइ नदारद ज़े यख–ओ–जालेः निशां [14]

अर्थात् और वह भी इस तरह होता है कि उनके गुलाब और लाले के फूल खुशबूदार नहीं होते। उन पर बर्फ और पाले के निशान होते हैं। छठी दलील यह है कि अहमद–ए–मुरसल इस्लाम के पैग़म्बर ने कहा है कि दुनिया की नेअमतें हमारे लिए नहीं है बल्कि यह तब जन्नत के बदले में काफिरों को मिली हैं और आदम से लेकर दीन–ए–इस्लाम तक हिन्दुस्तान कुफ्र वालों के लिए ऊँची जन्नत बना रहा है। चुनांचे मुसलमानों और काफिरों दोनों के औसाफ गुण की दृष्टि से हिन्दुस्तान जन्नत है।

बस बहमेः हाल ज़े खूबी–ओ–बिही
हिंद बिहिश्त अस्त बइस्बात रही [15]

अर्थात् बस हर हाल में अपनी खूबियों और गुणों के कारण हिन्दुस्तान सचमुच जन्नत बना रहा है। हिन्दुस्तान को स्वर्ग प्रमाणित करने के संबंध में ख़ुसरो के पास आख़िरी, पक्की और भरपूर दलील यह है कि मुसलमान हिन्दुस्तान में सच्चाई के साथ है और जब तक उसके जिस्म में ज़रा सी भी जान बाक़ी है, तब तक दुनिया उसके लिए अपनी अच्छी और ज़्यादा खूबियों के होते हुए भी एक कैदख़ाना ही है। मगर हिन्दुस्तान की बात दुनिया से निराली है, क्योंकि –

लेक बहिंद अस्त नसीमिश दिगर
कांश दुरूं मी देहद अज़ जन्नत असर [16]

अर्थात् लेकिन हिन्दुस्तान की ठंडी हवा की और ही बात है कि वह भीतर से जन्नत का असर रखती है। इस प्रकार हिन्दुस्तान ख़ुसरो की नज़र में धरती का स्वर्ग है और ऐसे देश में रहना सिर्फ उनके लिए ही नहीं वरन् प्रत्येक हिन्दुस्तानी के लिए एक गौरव की बात है। ख़ुसरो को हिन्दुस्तान की आबोहवा पर बड़ा फक्र था क्योंकि एक तो यह जन्नत की आबोहवा से मिलती–जुलती है, दूसरे यहाँ के बाशिन्दों के लिए यह बड़ी सुहावनी और सेहतमन्द है।

ख़ुसरो देश प्रेम को अपने ईमान का हिस्सा मानते थे। ख़ुसरो ने हिन्दुस्तान की माटी को अपनी ऑखों का सुरमा बनाया था वे नस्ल से तुर्क थे मगर उनका दिल हिन्दुस्तान की मिट्टी से बना था। देश भक्त अमीर ख़ुसरो ने हिन्द के सम्बन्ध में अपने बेटे को जो नसीहतें दीं वो इस प्रकार हैं –

1. जिस प्रकार मैंने हिन्द को ही अपना सब कुछ समझा उसी प्रकार तुम भी हिन्द को ही सब कुछ समझना।
2. तुम अपनी शायरियों को हिन्दी भाषा में ही करना।
3. तुम अपनी शायरी का कोई भी हिस्सा शाहों की खुशामद में बरबाद मत करना।
4. मैं चाहता हूँ कि तुम हिन्द के आम लोगों में घुल–मिलकर उनकी रूहों की आवाज सुनना और फिर उस आवाज को अपनी शायरी की रूह बना लेना। [17]

अमीर ख़ुसरो ने फारसी और तुर्की भाषा की तुलना में हिन्दुस्तान की भाषाओं को अच्छा कहा है। मसनवी नु:सिपेहर पृ. 172 से 181 तक। उन्होंने भारत की दूसरी भाषाओं को सीखा, जाना और समझा। अरबी भाषा साहित्य और व्याकरण की दृष्टि से समद्ध है लेकिन संस्कृत उससे कम नहीं है। अगरचे दरी फारसी मीठी और शक्कर की तरह है लेकिन संस्कृत में भावनाओं की अभिव्यक्ति उनसे कम नहीं –

आनस्त ज़बानी बसिफत दर दरी, अज़ अरबी कम तर–ओ–बर तरज़े दरी
गरचेः कि शीरीं नस्त दरी–ओ–शकरीं, ज़ौक–ए–इबारत कम अज़ां नोस्त दरी [18]

अमीर ख़ुसरो ने 120 साल से ज़्यादा जीनेवाले, सिखाए, पढ़ाये और सधाऐ हाथी के कामों और चमत्कारों की भी चर्चा की है। इसके बाद अमीर ख़ुसरो ने नु:सिपेहर में पृ. 191 से 195 तक भारत के चमत्कार पूर्ण जादू की चर्चा की है कि साँप द्वारा काटा हुआ आदमी 6 माह बाद भी जिन्दा किया जा सकता है। यहाँ के ब्राह्मण बहुत बेहतरीन जादू–टोना जानते हैं। योगियों की दम साधना, अपनी आत्मा दूसरों में डालना, भेड़िया, कुत्ता, बिल्ली को एक जैसा बना देना, शरीर का खून निकालकर फिर से उसमें वापस ले आना, स्त्री का सती होना, पुरूषों का मूर्तियों और स्वामियों के लिए जान देना आदि आश्चर्यजनक कामों का ब्योरा ख़ुसरो ने बड़ी बारीकी से दिया है। इस प्रकार अमीर ख़ुसरो ने भारत की तारीफ में सफे के सफे लिख डाले हैं। उन्होंने अपने ज़माने के हिन्दुस्तान की ऐसी दिलकश तस्वीर पेश की है जो दूसरों के यहाँ आसानी से नहीं मिलती। कितने चाव और लगन से उन्होंने भारत की खूबियों को उभारा है। वे अपने ज़माने के प्रसिद्ध कवि, दार्शनिक और संगीतकार थे। साथ ही नेक राजनीति और दुनियादारी में किसी तरह पीछे नहीं थे। यह उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की महानता थी कि उन्होंने अपने जीवन को हिन्दू–मुसलमान की संकीर्ण भावना के सीमित दायरों में नहीं बाँटा। ख़्वाजा निज़ामुद्दीन औलिया के 'तुर्क अल्लाह' अमीर ख़ुसरो ने जीवन की असाधारण ऊँचाइयों को अपनी ज़िन्दगी में ही छू लिया था। उन्हें किसी तरह का कोई लालच नहीं था और न अपनी स्थिती को मजबूत बनाने की फिक्र। बस उनके हृदय में सच्ची भारत निष्ठा थी, देश प्रेम की अनूठी तड़प थी और भारत के प्रति अगाध भक्तिभाव था ज़ो उनके साहित्य में प्रत्यक्ष हुआ है।

Seven Ṣūfī brothers
Dargah vernacular narratives and Konkani Ṣūfī-Muslims (Excerpts)

Deepra Dandekar

This chapter outlines relationships between Ṣūfī-Islam and present-day worship at Ṣūfī dargahs in coastal Maharashtra (Konkan), based on lo cally assembled Ṣūfī oral hagiographies from the Ratnagiri district. I have attempted a historically layered reconstruction of vernacular Ṣūfī-Muslim piety in the Konkan, examining mutual associations between Ṣūfīsm and Konkani dargahs. I am especially interested in the institution of Ṣūfī Muslim 'brotherhoods' and its vernacular Konkani version, which is inter stitially located between a widespread acceptance Ṣūfī-Islam and its tenets, and an everyday, quotidian expression of Muslim religiosity and Ṣūfī piety. To that end, I begin my argument with a discussion on Ṣūfī-Islam, and the Ṣūfī-Muslim idea of 'brotherhood' and dargahs in the Konkan, followed by oral hagiographies from the Ratnagiri district. My argument seeks to jux tapose accepted ideas of Ṣūfī-Islam, against the vernacular Muslim notion of the same, as I aim to deconstruct universalizing notions about Islam and religion. To achieve this goal, I promote a vernacular hermeneutic of Ṣūfī Islam that formulates a quotidian subtext for written Ṣūfī hagiographies that first became popular in the nineteenth century, in Bombay with the emergence of the printing press.

Ṣūfī-Islamic ideas of 'brotherhood'

Nile Green has outlined some basic principles of Ṣūfī-Islam – Tasawwuf and its origins that may prove useful for this chapter. While Tasawwuf or 'being Ṣūfī' is derived from the word sūf or wool, the term Ṣūfī connotes the wearers of 'wool', that is considered an uncomfortable and coarse cloth associated with asceticism. Ṣūfīs were considered awliyā, or Allah's friends, whose powers of intercession with the latter on behalf of the suffering, alleviated their sorrows, illnesses and misfortune. Awliyā or Ṣūfīs, who were deemed holy, especially gained social status if they claimed direct descent or claimed a shared blood-line with the Prophet's family, or his companions. Their bodies were believed to be infused with baraka, a miraculous power that allowed them to intercede with Allah, and effect miracles (karāmāt).

The power of these miracles evidenced in their friendship with Allah, helped Ṣūfīs in missionizing Islam by initiating novices as member-adherents of their mystical traditions. And ritual initiation or the bayat of novices often included the physical transfer of baraka to the novice murīd, by the dargah's leading Ṣūfī (variously known as sheikh, pīr or khalifā). As Green demonstrates, Ṣūfīs came to be organized in various networked conglom erates that propagated specific methods of intellectual and mystical tradi tions, such as prescribed meditation techniques, by the thirteenth century. These conglomerates known as silsila (chain) or tarīqas (path) have often been likened to Christian 'brotherhoods' organized around the venera tion of particular saints.

Ṣūfī lodges in South Asia are associated with the burial-places of important Ṣūfī saints, whose baraka is said to bless people even after his disappearance from the worldly domain. The belief that the saint is not dead but existing in a veiled, pure and powerful state within his grave is common and often produces the building of his burial, known in South Asia as dargah, as a precinct suffused with baraka. The longevity of the tarīqa and Ṣūfī-Islam, therefore, hinges on ritual initiation or bayat, a process that recruits new members and adherents into the brotherhood and expands it geographically into other regions, where new dargahs are built. As Ṣūfīs travelled to different parts of the world, establishing new dargahs and initiating local novices, their piety and achievements generated hagiographies that further increased the power of their brotherhoods. Ṣūfī-Islam spread across Africa, Asia, South Asia and South East-Asia, as a result of the pioneering achievements of Ṣūfī Sheikhs from different law schools and tarīqas from the Arabian Peninsula such as the Qādi riyya, Aydarūsiyya and Rifāiyya became prominent in the Konkan, due to the presence of Arab trading groups in Coastal Maharashtra and Southern Coastal Gujarat. Proliferating brotherhoods, accompanied by travelling Ṣūfīs were, therefore, geographically specific, even as they spread to the Deccan. Their presence combined the principles of Ṣūfī-Islam with vernac ular piety, enabled by the patronage of local rulers. The relationship be tween earthly and other-worldly dominions of political control (wilāyat) shared between rulers and Ṣūfīs is exemplified through their burials; Kings and Ṣūfīs often share common burials at many dargahs, such as at the dar gah of Sheikh Zaynuddīn at Khuldabad shared by Aurangzeb.

It is also well known that Shivaji, claimed as the progenitor of a Hindu-Marathi empire in the Deccan, patronized the Ṣūfī Yaqūb Sarvari (with his dargah at Kelshi) in the seventeenth century, consulting the latter regularly on po litical matters, such as the conquest of Konkan. Vernacular Konkani Ṣūfī Islam rooted in Maharashtra traces its descent to the Arabian Peninsula, to Konkani-Arabic activities of trading and sailing across the Arabian Sea. Konkani Ṣūfī-Islam is, therefore, considered dissimilar to North Indian, Urdu-Persianate Islamic traditions by Konkani Muslims themselves. Due to this dissociation, Konkani Muslims, who mostly follow the Shafi'i Islam law school and adhere to the Qādirī and Rifāī tarīqa, are also differentiated from the Deccan Sultanates or Bijapuri traditions bearing origin in North India, characterized by the Hanafi law school, and accompanied by brotherhoods/tarīqas such as the Chishtī, Suhrāwardi, Madāri or Junaydī. Before proceeding to the subject of Vernacular Konkani Islam and Su fism, it is important to mark alleged cultural differences between Konkani Muslims and North Indian Muslims as politically coloured.

The Shiv Sena has commonly labelled Konkani Muslims 'autochthonous', in comparison to North Indian Muslims, who are considered migrant outsiders and in filtrators. During my fieldwork with Konkani Muslims in Raigarh and Ratnagiri districts, I observed their precarious and marginal existence. Many among my Konkani interlocutors reported that Konkan had grad ually become depopulated of Muslims in postcolonial times. Half the original population had left India for Sindh after the 1947 partition, and the other half had left for jobs in the Gulf in recent times. Those who remained behind were considered residual and old-fashioned.

They were alleged to cling to their ethnic-religious community-identity today in an effort to influence local electoral politics. Those Konkani Muslims, who return regularly from the Gulf, on the other hand, were increasingly in fluenced by Wahhabi reformism that decried Konkani Ṣūfī traditions as decadent, Hindu-istic and non-Islamic. On the other hand, many Hindu nationalists, chiming-in with Wahhabis in an unusual alliance, proclaimed that 'real' Muslims did not have graves or graveyards. In a bid to push even these residual Konkani Muslims out, they claimed that Konkani dar gahs and graveyards represented Muslim land-grabbing strategies. Besides, there were Brahmanical rationalists, who carried out secret raids at dar gahs, claiming that rituals here exploited women and the downtrodden. According to my interlocuters, no dargah ever stopped non-Muslims from praying there; but despite this, local Ṣūfī adherents were blamed for Hindu superstitions, practiced at dargahs.

Finally, the oxymoronic and hyphenated category of autochthonous Marathi-Muslims locates Konkani Muslims awkwardly. According to my informants, the Shiv Sena's claim of Konkani Muslims being Marathi and autochthonous to Maharashtra has two repercussions. While Konkani Muslims confront religious isolation for being a small Muslim minority, they also enjoy better social integration as Maharashtrians. Their fragmentary position is increasingly utilized as an exemplar of 'Indian-Muslim ness' that discriminates against North Indian Muslim migrants, who are labelled Pakistani or Bangladeshi infiltrators. Based on the Shiv Sena's at tempts to launch 'Marathi' as an ethnic identity, Konkani Muslims have become closely associated with Hindu majoritarian discourse, with Mar athi serving to erase their experience of being Muslims in the public do main. Muslim erasure affected by and through prescribed conformity with a vernacular state is symbolized by the dargah – a crumbling public symbol of vernacular Islam in Maharashtra, an ambivalent and dilapidated edifice expressing discomfort with indigeneity, excluded but still indirectly allied with Indian national and transcultural relations. Konkani Ṣūfī-Islam as transcultural religiosity, with its history in Indian Ocean networks, therefore, declines increasingly, in an age of nation states.

Extending Ṣūfī brotherhoods to Konkani dargahs

There was a sense of 'history being destroyed', among many of my Konkani Muslim respondents, who were Ṣūfī adherents. For them, Konkani Ṣūfīsm was neither an eminent Delhi-based tradition, nor a result of their geo graphical proximity with Bijapur. Instead, according to them powerful Muslim traders from Arabia (Arabastān), who once served local Konkanis, became transformed here into souls revered as Ṣūfī saints, who were wor shipped as Muslim village deities by Hindus. In discussions about Ṣūfī brotherhoods or tarīqas, my interlocutors pointed to present-day dargahs in the Konkan as all-encompassing of brotherhoods operative in the past, promoting Ṣūfī learning, meditation, initiation and healing. Although there was no historical evidence that present-day dargahs ever functioned as Ṣūfī lodges and tarīqas in the past, my respondents pointed to the existence of dargahs (and miracles effected at the Ṣūfī's grave) as proof for thriving and powerful Ṣūfī institutional settlement here in the past.

This evidence of greatness in the past, indeed local Muslim history, according to them, was gradually being destroyed by Wahhabis, rationalists and Hindu nationalists. It was said that Konkani Muslims travelled to old dargahs on pilgrim age, to not just pray for the saint's divine intercession but to behold their heritage in the region, a heritage that provided them political validation in the present. While my respondents argued for the past, making its evidence contingent on the present; this present was also projected backwards – 'it is so now, because it was so in the past'. By doing so, however, they also erased the opportunity of acknowledging the transformative role played by present-day Ṣūfīsm in bolstering Muslim society. Instead, they viewed it as static and residual. I understood such opinions to be reflective of post colonial Muslim identity-building in the Konkan. By positing present-day dargahs and Ṣūfī traditions as all-encompassing, my respondents expressed their identity as ancient regional Muslims, with political claims to the Konkan.

According to them, dargahs today were facilitated by saintly souls of Sheikhs from the past, whose Ṣūfī institutions of learning were interna tional, and who shared discourse and contact with travelling Ṣūfīs from all over the world. While they were buried within these institutions, in grave yards surrounding it, Ṣūfī tarīqas and spaces housing such institutions from the past became transformed into dargahs, where Ṣūfīs belonging to a hoary tradition were buried and worshipped by devotees. As for this moment of transformation, my respondents remained divided. Again, projecting their current political situation backwards, one variety of viewpoint stated that Konkanis had intermittently forgotten and relinquished their dargahs due to colonial oppression. Only after independence were dargahs revived as identity-markers for Konkani Muslims. And now, they crumbled again as Konkan became depopulated of Ṣūfī adherents, becoming replaced by Wahhabis and Hindus.

The other variety of viewpoint was more interesting, promoting a composite interpretation. According to this view, current-day dargahs, encompassing historical remnants from the past, promoted a concealed variety of Ṣūfīsm in the present that remained, as yet, thriving and vibrant. My respondents explained that Ṣūfī-Islamic principles from the past had transformed into present-day dargah rituals, through a concealment of the trans formative process that produced a continuity in tradition. For example, if dargahs had functioned as international Ṣūfī-Muslim lodges/institutions housing different tarīqas from the past, they were still doing so by retaining direct involvement with modern Muslim institutions that housed orphans or promoted Islamic teaching (yatīm khānas and madrasas). However, this process of continuity had remained largely unrecognized. Dargahs today continued to house the poor and destitute, and the ill and praying. Devo tees continued in their learning of spiritual practices at dargahs, enabled by trances facilitated by the Ṣūfī, who instructed disciples from inside the grave.

Travelling dervishes, fakirs and mendicants still arrived at the dargah and lived here, like before. But this continuity was now, instead, marked by the absence of Muslim adherents and the increasing influx of Hindu Marathi majoritarianism.

The non-evident continuity that had now gone undercover (as zāhir that had become bātin) instead highlighted renewed Hindu-Marathi participation within a transformed Ṣūfīsm, especially after the partition of 1947. Since Wahhabis considered Ṣūfīs as mortal and dead within their graves, dargahs represented grave-worship to them, though the Ṣūfī heart of the matter indicated the opposite. The concealed knowledge of a transformed Ṣūfī had emerged ever stronger in modern times, as he was now like a foreigner, surrounded by Hindus, who considered him a Muslim deity, while the Ṣūfī remained a Zindāpīr (eternally alive) and a Jihādī (war rior for the faith) within his grave.

My respondents applied the same argument of concealed transforma tion in postcolonial Hindu majoritarian Maharashtra, to baraka (the Ṣūfī's power of miracles), bayat (ritual initiation) and tarīqas (Ṣūfī brotherhoods). Though the Ṣūfī's tarīqa had in many ways passed away, it had not died. Instead, it had become concealed behind a veil, as the saint existed in a meditative state in his grave (variously described as tap or jhikīr/zikṛ). The Ṣūfī's ever-powerful baraka now flowed out and seeped into the body of his grave, and the floors, walls, pillars, ceiling of the dargah. Through this concealed transformation, the Ṣūfī who had once lived in the dargah became infused with the dargah's body, his power imbuing every brick.

The dargah's traditional caretaker (mujāwar), whose forefathers had once cared for the Ṣūfī, now cared for the Ṣūfī's transformed physical state and the dargah, soaking with baraka. The mujāwar's body, therefore, also absorbed the Ṣūfī's baraka due to his constant proximity with the grave. And this meant that the passing away of the tarīqa no longer mattered, and that there was no longer any formal requirement of bayat. The mujāwar received the Ṣūfī's baraka directly and carried out his orders by communicating through divine visions (bashārat). According to my respondents, bayat had concealed-transformed itself, and instead of abating with the tarīqa, it now proliferated by enlisting Hindu adherents to Ṣūfīsm. Since the Ṣūfī was now surrounded by Hindus, he summoned the latter to the dargah through bashārat and dreams, under the pretext of healing illnesses. Hindus, in addition to various other treatments, performed healing rituals at the dargah. Unknown to them, however, these healing rituals constituted taking bayat from the Ṣūfī. The absence of knowledge about bayat or mistaken healing rituals was convenient for most Hindus, as they misidentified the glory be stowed on novices by Ṣūfīs during bayat as the healing power of deities. While bayat or healing rituals at dargahs mostly involved eating ash from the Ṣūfī's graveside-incense (udī), drinking water used to wash the Ṣūfī's grave (ghusl) and breathing-in the Ṣūfī's incense (lobān), the corporeal ingestion of the Ṣūfī's physicality led to the transference of baraka between devotees and the Ṣūfī. The Ṣūfī's bayat was hence rearticulated as healing for Hindus, and it is only after bayat when novices continued to go into trances and receive bashārat from the Ṣūfī, that their true and secret nature of inner Ṣūfī transformation was achieved. The publicly known zāhir of healing was hence, layered with the privately understood or secret, bātin world of the Ṣūfī's bayat. According to my respondents, this transformation within bayat terminology was important, since Hindus could misunderstand bayat as religious conversion and might even attack dargahs.

Especially, the un-initiated Hindu could be hardly expected to understand bayat as it was a parallel moral and spiritual universe that did not necessitate physical, professional or administrative conversion to Islam. I had noticed that mujāwars from different dargahs, where I conducted interviews, often replaced discussions about tarīqas with descriptions of brotherly relations between Ṣūfī saints. They typically related seven Ṣūfī saints buried in dargahs from the surrounding region as seven brothers (sāt-bhāū). In our discussions, this brotherly fraternity of seven Konkani Ṣūfīs within the local region seemed to replace traditional tariqa bonds be tween novices. The replacement of brotherhood with brother-ship created a Ṣūfī Muslim region, where Konkani Ṣūfī-Muslims and Hindu-Ṣūfī adher ents (secret novitiates) became interrelated like a family that shared baraka. Therefore, though Hindu novitiates did not know that they had become no vitiates through dargah rituals, they nevertheless became allied with Mus lims as 'brothers' through the brother-ship of their Ṣūfīs – the recreated and secretly transformed tarīqa. I was to conclude that discussions about secret transformations within Ṣūfīsm in modern Konkan pointed to a political cleavage between classical relationships of Ṣūfīsm and Islam. While my respondents spoke of Islam as now relegated to Pakistan, Bangladesh or the Gulf, Ṣūfīsm remained accessible as 'Indian', Marathi and Hindu, char acterized by brother-ship, healing and the tutelary power of the mujāwar, who conveyed divine messages from inside the Ṣūfī's grave to the public.

Konkani hagiography and brother-ship

I encountered descriptions of Ṣūfī brother-ship quite regularly at dargahs in Raigarh and Ratnagiri, as I collected information from local mujāwars who enthusiastically explained how their Ṣūfī was brothers with six or seven nearby others. Their favorite way of explaining this brother-ship was to claim that all dargahs belonging to the seven brothers had been built in a single night, after the Ṣūfīs had traveled together to the Konkan coast from Arabastān. The list of Ṣūfī brothers provided by each dargah was however, often subjective, since each dargah provided me with different names and a different list of Ṣūfī brothers. I was unable to find many dar gahs located within forests or on mountain-tops, but even when I did, not all corroborated their brother-ship with the shrine where I had first begun their search. Many Ṣūfīs, like those at the dargah of Akusarkhan at Pophli (Raigadh district), claimed uncorroborated brother-ships with dargahs at Kelshi, Dabhol, Alibagh, Khed and Chiplun. The dargah at Pophli also claimed brother-ship with the local village-goddess (goddess Kali) and celebrated this in an annual procession of the goddess (chhabinā). Realizing that the seven-Ṣūfī brother was a trope that enlisted dargahs in the task of creating Ṣūfī micro-regions, the arduous exercise of tracing brothers provided me with a visual Ṣūfī map, internal to Raigarh and Ratnagiri. In Ratnagiri, for example, I began with the dargah of Ṣūfī Bābā Karāmud dīn at Bhatye, whose tarīqa was considered unknown by most devotees, but whom the mujāwar claimed, belonged to the Qādirī tarīqa and Shafi'i law school. Bābā Karāmuddīn was known to have arrived by sea on the Konkan coast under Allah's and the Prophet's orders from Arabastān – somewhere from the direction of Mecca, accompanied by seven brothers and 1,24,000 Ṣūfī followers.

The mujāwar explained that Bābā had no options but to travel by sea, since Konkan had no roads and was full of jungles in an cient times. Bābā's dargah was made on the sea coast by a follower, who was a boatman and fisherman. This boatman-fisherman became a devo tee after he was saved from drowning by Bābā. His boat suddenly sprang a leak in the middle of a storm in the sea, and Bābā, realizing this leak while in meditation on the coast at a great distance, had proceeded to block the leak through his meditative powers. Bābā was so powerful that he could leave his body and travel elsewhere, while meditating. Bābā had six other brothers: one was at Shirgaon (Pīr Jawān Shāh Walī), the second at Kalba Devi (Hasan Pīr), the third at Hatis (Bābar Sheikh) and the fourth at Lanja (Chānd Shāh Bukhārī). The mujāwar couldn't remember the last two brothers but was confident that I could find them by going to any one of these dargahs that he had enlisted. Though I found the dargahs he had enlisted, I found very little reference to Bhatye and was instead directed to other nearby brother-dargahs. With the exception of Shirgaon and Lanja, I found no cross-mention to the Bhatye dargah. Therefore, though I continued to follow the Bhatye dargah track, one could hypothetically start with any one dargah in the Konkan and follow thousands of potential seven brother-ship routes branching out from it. According to the mujāwar at Bhatye, all brother-ship dargahs could be identified by certain unifying features, such as the story of being built together in one single night. Also, the proof of their brother-ship was evidenced by the date of their urs (annual celebration of the saint's anniversary) that coincided with the full-moon night in the month of Māgh (January–February). I soon discovered that most dargahs in the Konkan celebrated their urs on the full-moon night of the Māgh month, further fuelling the visual of a Konkani-Ṣūfī region, interrelated through brother-ships. The mujāwar at Bhatye told me that most ancient dargahs in the Konkan were built during the shivakālīn period, even though subsequent renovations provided many newcomers with a false impression of these dargahs being more recent. The mujāwar said that he had been ritually initiated by the Bābā Karāmuddīn in a bashārat (divine vision), and he now received regular bashārat from the latter who was said to be meditating inside his grave.

I proceeded to Shirgaon from Bhatye to the dargah of Pīr Jawān Shāh Walī. The mujāwar at Jawān Shāh's shrine was unclear about the pīr's identity and hagiographical details, though he knew that the Bhatye Bābā was one of Jawān Shāh's brothers. He lamented over how worship (ibādat) was missing at the shrine in current times and described how Jawān Shāh, when present, could walk over water. It seemed the latter often walked over water, crossing the backwaters (khāḍī) of Shirgaon to meet his other Ṣūfī brother, Hasan Pīr at Kalba Devi, whenever bored. He described how the Ṣūfī brothers between Shirgaon and Kalba Devi helped to moor fishing boats and trading ships that were caught in storms, assisting them to dock at the old Shirgaon harbour, conveniently located between the two dargahs. One could see Hasan Pīr's dargah from Jawān Shāh's, across the arching coast of the old harbour, now silted over with a sand-bar. Pointing to the khāḍī, the mujāwar told me how ships would earlier dock here, when trade between Konkani Muslims and Arabastān was active and not considered illegal. According to the mujāwar, Pīr Jawān Shāh Walī's dargāh was magical. It had never suffered damage, despite being stuck many a times by lightning during storms.

The dargah also had an Alphonso Mango tree with very sweet fruit in its courtyard. This fruit, however, had turned bitter after the 1947 Hindu-Muslim riots at Shirgaon (jaisā jaisā mohobbat khallās huā, vaisā vaisā pīr-sāheb ke pattāngaṇ kā āpūs-āmbā kaḍū ho gayā! – 'as the love receded, so, did the Alphonso mango in the Pīr's courtyard turn bitter')! According to the mujāwar, there was a piquant reason for the increasing popularity of Jawān Shāh's dargāh at Shirgaon, despite many Muslims departing from the Konkan, or turning anti-Ṣūfī. Legend has it that there was a curse on Shirgaon. Hindu temples built here during the day would break in the night. It was only after the Ṣūfī arrived here and established his dargah that Hindu temples also began surviving. This benefice was considered a result of the Ṣūfī's blessing. Hindus, therefore, provided enormous patronage to the dargah, and the mujāwar was certain that Hindus in Shirgaon could not live without Muslims. However, the mujāwar also felt that Hindus in the village did not respect the purity of the Ṣūfī and the morality of Ṣūfī-Islam, since they came to the dargah and wished for boons that would help to hide their wrongdoings from the police. They utilized the dargah as a protective shield, instead of turning over a new leaf, taking the Ṣūfī for granted by bribing the dargah with gifts in return for unlawful protection. This created misapprehension among Muslims, espe cially those who were against Ṣūfī-Islam, and who charged the dargah with sheltering Hindu criminals. But the Ṣūfī changed that soon enough. Nowadays, immoral wishes were no longer fulfilled at the dargah, and many criminals had been arrested for their misdemeanours, notwithstanding their ritual promises made to the Ṣūfī, the mujāwar claimed. This did not mean that the Ṣūfī power of effecting miracles was not real as claimed by rationalists and reformists, or that the Ṣūfī only helped Muslims, as claimed by right-wing Hindus. It meant that the Ṣūfī no longer harboured criminals.

The dargah of Hasan Pīr at Kalba Devi, just across the backwater from Jawān Shāh's, had a modern-looking, Portuguese-style frontal façade that gave way to the inner sanctum, resembling a Hindu temple. There was a cremation ground directly adjoining the dargah, and the rest of the surrounding area, I was told by a local respondent, was largely populated by affluent local fishermen. The dargah seemed to have been claimed by local Hindu groups too, since there was a Saffron flag planted in front of it. The hagiography of Hasan Pīr was virtually unknown, apart from his brother-ship with Jawān Shāh. The mujāwar at Jawān Shāh's dargah recounted similarities between the two Ṣūfīs by describing how Hasan Pīr's dargah survived lightning attacks but diverted the light from the lightening into the sea, to show ships and boats their navigational path. There was an interesting story about the Ṣūfī brothers that the mujāwar from Jawān Shāh's dargah told me: Jawān Shāh, arriving from Arabia to the Konkan coast at Shirgaon, encountered a Hindu magician, who lived at the cremation grounds of Kalba Devi. This magician possessed an enor mous army of evil spirits at his command, who helped him operate a flour ishing illicit-liquor trade. The magician secretly tapped toddy (tāḍi-māḍi) from adjoining coconut and palm trees and sold this liquor made illicitly, to nearby fishermen. Receiving complaints about this magician, Jawān Shāh defeated the latter in an dramatic battle that ruined his liquor business and disbanded his army of evil spirits. He then initiated the magician into Ṣūfī-Islam and turned him into his

murīd, renaming him Hasan Pīr. And this purified Kalba Devi. Hasan Pīr, thereafter, used his miraculous powers to intercede with Allah on behalf of sufferers in the village. And he also dug a sweet-water well near the sea-front for local fishermen, to whom he had earlier sold illicitly made toddy. At the dargah of Hasan Pīr at Kalba Devi, I found an early twentieth-century inscription that reveals the present structure to have already been in ruins in 1906. I have made and provided a translation of this dedicatory nāgarī-Marathi inscription below:

> *Hail to the holy structure!*
> *Kalba Devi, village Pusāḷe, the dargah of Hasan Pīr Sāheb was earlier in ruins. This dargah was repaired and rebuilt, according to memory, from its foundations, insides, and to its dome by late Rao Gobal Shivaji Mayekar Khot Tanaji with his own money. All the labour for this task was explained to us, and carried out under the instructions of Rao Ramji Gopal Mayekar Nagji Khot. January 10th, Wednesday 1906. Paush Shukla 15th, Shak Saṁvat 1827. (His wife's dedication below the main inscription, adds) Whatever destruction took place at the dargah in the year 1931 due to destruction caused by sea-water was repaired by Chimābāī in the memory of her husband.*

This inscription demonstrates the significance of Hasan Pīr's dargah to non-Muslim and locally land-owning dominant-caste clans from Kalba Devi. Evidently, the dargah was important for Khot-Tanaji, Nagji Khot, their clan, the village members to whom financial arrangements were explained and even to a surviving wife, Chimābāī, who repaired the dargah after her husband had passed away. The Khots were obviously influential and affluent enough to not just repair the dargah repeatedly but to claim ownership over a public, religious structure. The inscription claims that the dargah was almost completely rebuilt in 1906. And there is no reason to doubt that the structure and grave were already present before 1906, when repairs were first made and documented by the Khots. Since modest narratives of praising new ownership are often displaced by disparaging the earlier conditions of that property, it is unclear whether the dargah was truly dilapidated or whether the narrative uses 'dilapidation' as indirect references to the grandeur of the Khots (a praśastī). The inscription does suggest the acquisition of the land connected to the dargah by the Khots; agrarian property, whose borders were perhaps marked by the dargah, and they reiterated their political claims to this ownership by repeating renovations in 1931.

From Shirgaon and Kalba Devi, I progressed to Hatis and Lanja. Pīr Bābar Sheikh's dargah at Hatis was entirely controlled by Hindus belonging to a specific clan called Nagvekar, who formed the village's demographic majority. The Nagvekars conceptualized the dargah as a grave, and the shrine as that of a Muslim deity; and not a Ṣūfī, who was veiled but alive inside his grave. The present-day village of Hatis has no Muslims, and the dargah has no mujāwar.

The Ṣūfī's story is printed and sold in the form of slim booklets that mostly describes the Nagvekar-narrative about other Hindu village deities, the village administration, information about Hindu village festivals, and self-appreciation for rural-development activities at Hatis. The 16-page booklet titled 'Pīr Bābar Sheikh's dargah at Hatis' contains only three pages about the Ṣūfī, mostly describing his present-day rituals and urs. The booklet describes Bābar Sheikh as an interstitial being, who arrived in the village, sailing miraculously up the Kajali River (against the current) towards the hinterland in a boat. Some respondents in the village described him to have arrived in a coffin. The confusion between the boat and coffin, implying confusions between the live and dead saint, went unnoticed at Hatis as my respondents continued to recount how Bābā, existing between being dead and alive, served people at the village and cured them of illnesses. He was buried along with those who accompanied him; and their house and graves became collectively revered as the dargah. It is an ambivalent structure at Hatis today,30 with its dome already altered and coloured yellowish-saffron to make the structure look like a Hindu temple. Due to this Hindu layering at Hatis, the graves of Pīr Bābar Sheikh's murīd at the dargah are also considered demonic or khavīs employed in the service of the saint, who are deployed by the village like policemen to detect wrongdoings by breaking coconuts and sacrificing animals at these graves as propitiatory ritual offerings.

The ritual process of making offerings, called hukmāchā-ikkā (the ruling ace in a pack) is said to transform the Ṣūfī and the dargah into a Muslim village deity that exorcises a Hindu village of evil and witchcraft. My interlocutors at Hatis did not even know of the existence of seven Ṣūfī brother-ships, and denied that Bābar Sheikh was ever anyone's brother, though they confirmed that his urs took place on a full-moon night in the month of Māgh. However, despite the Nagvekars co-opting the Ṣūfī and dargah as a village deity temple, Bābar Sheikh's orig inal identity as Muslim continued to be capitalized. The Nagvekars sold the booklet titled 'Pīr Bābar Sheikh's dargah at Hatis' to attract Muslim tourists during the saint's urs to the village, even though there was very lit tle about the saint printed in it. Konkani Muslims from neighbouring areas still visited Hatis to pay the Ṣūfī their respects.

The last *dargah* from the Bhatye trajectory was Chānd Shāh Bukhāri's *dargah* at Lanja. The *mujāwar* confirmed Chānd Shāh's brother-ship with Hatis and Bhatye, but not with Shirgaon and Kalba Devi. According to the *mujāwar* at Lanja, who was joined by the head of a local Muslim school for the meeting I had organized with them, the village was segregated between Muslims and Hindus. While Chānd Shāh looked after the Muslim part of the village, other Hindu village deities Kolteshwar and Kedarlinga, who were also each other's brothers, helped to keep the Hindu parts intact. Many in the village had claimed to have witnessed Kolteshwar, Kedarlinga and Chānd Shāh Bukhāri riding around the village at night astride their horses. The three deities kept order in the village, tightly surveying all villagers and ensuring that no one crossed the religious boundaries between Hindu Muslim segregated zones. Festivals at the *dargah* were likewise celebrated by keeping this religious segregation in mind.

Rituals were performed at the dargah by all communities, but respect for religious differences was also strictly adhered to. Muslims and Hindus did not perform rituals together. However, Ṣūfī miracles took place for both Hindus and Muslims here, subject to devotees maintaining strict religious separation. Although the legal ownership (sanad) of the dargah was a pending court matter (at Bangalore), problems of witchcraft-solving took place through divine visions or bashārat received by the mujāwar at the dargah. The mujāwar told me that Chānd Shāh Bukhāri and his brothers from Hatis, Bhatye and a few other neighbouring villages, arrived in Lanja together during the shi vakālin period and civilized the forests of Ratnagiri. I found the hagiographies of Lanja and Hatis similar though the Lanja dargah narrative was a level above the Hindu predominance encountered at Hatis; Lanja was also Brahminical in addition, as rituals at the dargah involved ideas about ritual pollution and untouchability. As evident from the hagiography, Muslims at Lanja were treated as a separate and untouchable caste (jāt) and village deities here that included the Ṣūfī, played an important role in segregating castes, predicated on the experience of blessings and miracles.

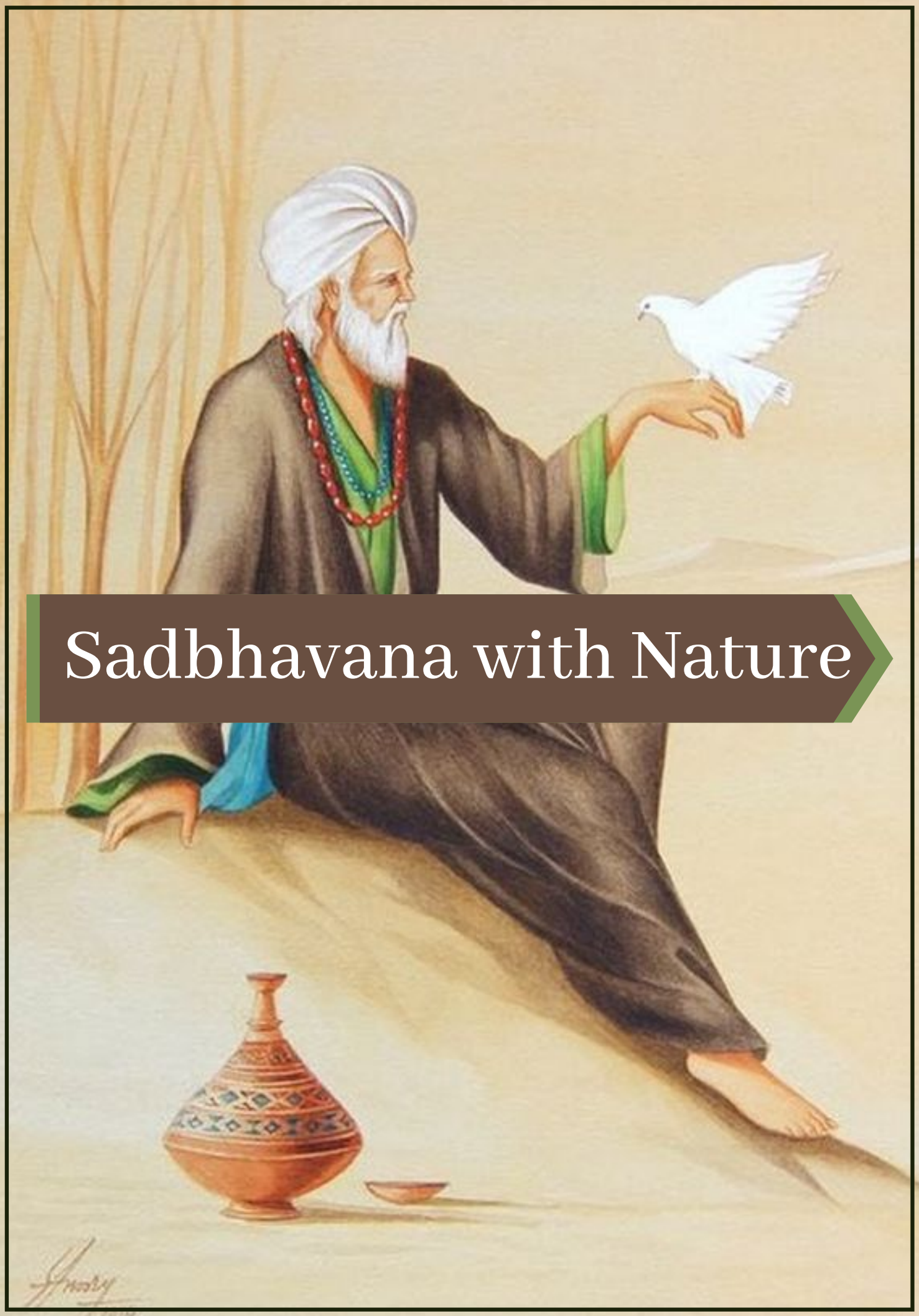

Sadbhavana with Nature

Image Courtesy: Uploaded by Sufism on Pinterest

कबीर के काव्य में पर्यावरणीय चेतना / Depiction of Nature in Kabir's Poetry

Dr Priti Tripathi
Assistant Professor (Department of Hindi) at RBD Women's College, Bijnor, Uttar Pradesh

Image Courtesy: Wikipedia

कबीर के काव्य में जगह-जगह प्रकृति अपनी पूरी गरिमा व भव्यता के साथ मौजूद है। यहाँ तक कि वह कई बार उपदेशक की भूमिका में भी नज़र आती है, जो इस जटिल व विषमतामय जीवन की परिस्थितियों से उबरने में मनुष्य की सहायता करती है। ऐसे में यदि हम उनके काव्य में अभिव्यक्त इस पर्यावरणीय चेतना को समझ सकें और इसे जीवन में उतार सकें तो उन्हें एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी। (चित्र: संत कबीर के साथ नामदेव, रायदास और पीपाजी, 19वी सदी, राष्ट्रीय संग्रहालय, Photo courtesy: Public domain)

कहते हैं कि कबीर का जन्म मध्यकाल की जिस संक्रमणकालीन बेला में हुआ था, उसमें मनुष्य तो मनुष्य, स्वयं प्रकृति भी अपना मार्ग बदल रही थी। उस समय गंगा की मात्र एक लहर पीछे छूट गयी थी, उससे जो ताल बना, बनारस में उसका नाम पड़ा- लहरतारा।[i] इसी तालाब के किनारे कबीर अपने पालनहार माता-पिता नीरू-नीमा से पहली बार मिले थे। अब ऐसे बालक का प्रकृति व उसके उपादानों से आत्मिक जुड़ाव होना स्वाभाविक है। कबीर के काव्य में जगह-जगह प्रकृति अपनी पूरी गरिमा व भव्यता के साथ मौजूद है। यहाँ तक कि वह कई बार उपदेशक की भूमिका में भी नज़र आती है, जो इस जटिल व विषमतामय जीवन की परिस्थितियों से उबरने में मनुष्य की सहायता करती है। यथा:

कबीर मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थैं फल झड़ि पड्या, बहुरि न लागै डार।।[ii]

अर्थात् जिस प्रकार संसार में मनुष्य का जन्म कठिनता से मिलता है उसी प्रकार लाख प्रयत्न करने पर भी एक बार शाख से तोड़ा गया, पत्ता वापस जोड़ा नहीं जा सकता। अतः देवोपासना अथवा किसी भी कर्मकांड के लिए पेड़ से पत्ता तोड़ना (बेलपत्र, धतूरा आदि) कबीर की दृष्टि में असंगत है। क्योंकि:

पाती तोरै मालिनी, पाती-पाती जीउ।[iii]

प्रत्येक पत्ती में जीवों का निवास स्थान है, उसे अनावश्यक हानि नहीं पहुँचानी चाहिये। जो पत्ती अपनी सजीवता में पेड़ के लिए सौन्दर्यवर्धक व आभूषण के समान शोभाकारक है, वही उससे तोड़ लिये जाने के उपरान्त निर्जीव होने के कारण जीव-जन्तुओं के काम की नहीं रह जाती।

सम्बंधित लेख | Kabir: Personal and Political

प्रकृति कबीर के काव्य का सार्वभौम व शाश्वत पक्ष है। उनकी दृष्टि में पेड़-पौधे, धरती, आकाश सम्प्रदाय निरपेक्ष हैं, अतः ये सदैव बने रहने चाहिये। हमारी उत्पत्ति जिस धरती से हुई है, वह हमें जीवन का पालन करने हेतु अन्न, जल, फल-फूल सभी प्रदान करती है, किन्तु कभी घमण्ड नहीं करती, न ही इसे अपना गुण मानती है:

सबकी उतपति धरती, सब जीवन प्रतिपाल।
धरति न जाने आप गुन, ऐसा गुरु विचार।।[iv]

ऐसी अप्रतिम सहनशीलता व महान दातव्य भाव के कारण कई बार वह गुरु से भी बड़ी प्रतीत होती है। पृथ्वीपुत्र वृक्ष भी परोपकार में उससे कम नहीं है। वह पक्षपातरहित होने के कारण सभी को समान रूप से छाया देता है। निरीह पशु-पक्षियों को आश्रय देता है। प्राणवायु ऑक्सीजन का संचार करता है। उसके फल-फूल, पत्ते और लकड़ी मनुष्य के काम आते हैं। कबीर के शब्दों में वृक्ष का वृक्षत्व उसके इसी परोपकार भाव में निहित है:

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर।।[v]

अर्थात् ये मूलतः दूसरे के उपकार के लिए ही जीवन धारण करते हैं, इनका यह व्यवहार सज्जनों के स्वभाव के समतुल्य है। किन्तु स्वार्थी मनुष्य को इसकी परवाह कहाँ? वह तो हानिरहित होने पर भी पत्ती खाने वाले पशुओं को मारकर खा जाता है। कबीर इसे बड़ी गम्भीरता से लेते हैं और ऐसे लोगों को चेतावनी देते हुये कहते हैं कि:

बकरी पाती खाति है, ताको काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल।।[vi]

वे पेड़-पौधों व जीव-जगत के संरक्षण को धार्मिकता से जोड़कर मनुष्य को प्रकृति की गोद में सहजता व सादगी से जीवन जीने की ओर प्रेरित करते प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि रोज़मर्रा के जीवन में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों का समाधान भी वे प्रकृति के आश्रय में खोजते दिखाई पड़ते हैं। यथा:

कबीर तन पक्षी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करे, सो तैसे फल खाइ।।[vii]

यहाँ कबीर ने मनुष्य के सामाजिक जीवन में सत्संगति का महत्त्व बताने के लिए 'पक्षी' के प्राकृतिक प्रतीक का सहारा लिया है। इसी तरह वे बगुले और कौवे के प्रतीक के माध्यम से संसार में सफेदपोश लोगों की पोल खोलते हैं। ऐसे उद्धरण उनके लोकजीवन विषयक सूक्ष्म ज्ञान के परिचायक हैं।

संक्षेप में 'गगन हमारा ग्राम' मानने वाले कबीर इतना तो भली-भाँति जानते थे कि जीवन अमूल्य है और इसकी उत्पत्ति शून्य में संभव नहीं है। अतः, वे प्राचीन धर्मग्रन्थों की सकारात्मक शिक्षाओं को मानव जीवन हेतु उपयोगी बनाने के लिए प्राकृतिक प्रतीक ग्रहण करते हैं और सारे वातावरण में परम सत्ता के प्रकाश का अनुभव करते हैं। जैसे मेंहदी के पत्ते में लालिमा होते हुए भी अन्तर्धान रहती है, उसी प्रकार ईश्वर जड़-चेतन में अन्तर्निहित होते हुए भी अदृश्य रहता है:

साहेब तेरी साहिबी, सब घट रही समाय।
ज्यों मेंहदी के पात में, लाली रखी न जाय।।[viii]

इस तरह कबीर का काव्य तमाम पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों व जीव-जन्तुओं का ऐसा अनूठा संग्रह बन गया है, जहाँ उनकी हर गतिविधि पर कवि की पैनी नज़र है। यह एक तरह से एक मध्यकालीन कवि के तौर पर कबीर के काव्य की महत्तर सिद्धि है। ऐसे में यदि हम उनके काव्य में अभिव्यक्त इस पर्यावरणीय चेतना को समझ सकें और इसे जीवन में उतार सकें तो उनके महानिर्वाण के 500 वर्ष बाद (माघ एकादशी, जून 28, 2018) भी यह उन्हें एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

प्रस्तुत लेख एक स्वतंत्र टिप्पणी है।

---

[i] कबीर की परिनिर्वाण पंचशती (वार्षिक आयोजन शृंखला-2018), कबीर चौरा मठ मूलगादी, वाराणसी, पृ. 6.
[ii] कबीर ग्रंथावली: साखी, सं.-श्यामसुन्दरदास, चितावणी कौ अंग, पद सं. 34, पृ. 114.
[iii] संत कबीर, डॉ. रामकुमार वर्मा, राग आसा, पद-14, पृ. 104.
[iv] सद्गुरु कबीर साहब कृत 'बीजक' विवेक प्रकाशिनी, बीजक टीका, टीकाकार-साध्वी ज्ञानानंद जी, श्री कबीर ज्ञान प्रकाशन केन्द्र, झारखण्ड, दोहा सं. 201, पृ. 478.
[v] कविताकोश, कबीर दोहावली, दोहा सं. 912, पृ. 10.
[vi] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, भक्तिकाल, प्र. 2 - निर्गुण धारा: ज्ञानाश्रयी शाखा, पृ. 46, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद.
[vii] कबीर ग्रंथावली: साखी, संपा.-श्यामसुन्दर दास, संगति कौ अंग (26), दोहा सं. 7.
[viii] सन्त कबीर के दोहे, भाग-5, श्रेष्ठ हिन्दी कवितायें, https://www.hindisahityadarpan.in.

Barahmasa

Malik Muhammad Jayasi

यह काव्यखण्ड मलिक मोहम्मद जायसी की प्रसिद्ध कृति पद्मावत के बारहमासा से उद्धृत हैं। इस पद्यांश में कवि ने मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन माह राजा रत्नसेन की वियोग पीड़ा में संतृप्त रानी नागमती की दशा का मार्मिक निरुपण किया है।

अगहन माह में बड़ी होती रात व छोटे होते दिन के बीच भौरों व कौवों से प्रियतम तक उसकी दशा का संदेश पहुंचाने की विनती क़रतीं है। पूस की ठंड में नागमती को उष्ण वस्त्रों से युक्त बिस्तर भी बर्फ के समान ठंडा लगता है। माघ माह में पड़ने वाला पाला नागमती के शरीर को मृतप्राय बना देता है तो वर्षा अश्रुधारा को और तेज़ कर देती है।

इसी प्रकार फाल्गुन में लोग जहां रंग खेल रहे होते हैं वहीं नागमती का जीवन बेरंग व रसहीन बना हुआ है। नागमती की आकांक्षा है कि उसके शरीर को जलाकर भस्म कर दिया जाए तथा राख को प्रियतम के मार्ग पर बिछा दिया जाए।

नागमती चित उर-पथ हेरा । पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा ॥
नागर काहु नारि बस परा । तेइ मोर पिउ मोसौं हरा ॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ । पिउ नहिं जात, जात बरु जीऊ ॥
भएउ नरायन बावन करा । राज करत राजा बलि छरा ॥
करन पास लीन्हेउ कै छंदू । बिप्र रूप धरि झिलमिल इंदू ॥
मानत भोग गोपिचंद भोगी । लेइ अपसवा जलंधर जोगी ॥
लेइगा कृस्नहि गरुड अलोपी । कठिन बिछोह, जियहिं किमि गोपी?॥

सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ? ।
झुरि झुरि पींजर हौं भई , बिरह काल मोहि दीन्ह ॥1॥

पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ । पपिहा निति बोलै `पिउ पीऊ' ॥
अधिक काम दाधै सो रामा । हरि लेइ सुबा गएउ पिउ नामा ॥
बिरह बान तस लाग न डोली । रकत पसीज, भींजि गइ चोली ॥
सूखा हिया, हार भा भारी । हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी ॥
खन एक आव पेट महँ ! साँसा । खनहिं जाइ जिउ, होइ निरासा ॥
पवन डोलावहिं, सीचहिं चोला । पहर एक समुजहिं मुख-बोला ॥
प्रान पयान होत को राखा ? । को सुनाव पीतम कै भाखा ?॥

आजि जो मारै बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि
हंस जो रहा सरीर मह, पाँख जरा, गा भागि ॥2॥

पाट-महादेइ ! हिये न हारू । समुझि जीऊ, चित चेतु सँभारू ॥
भौंर कँवल सँग होइ मेरावा । सँवरि नेह मालति पहँ आवा ॥
पपिहै स्वाती सौं जस प्रीती । टेकु पियास; बाँधु मन थीती ॥
धरतहिं जैस गगन सौं नेहा । पलटि आव बरषा ऋतु मेहा ॥
पुनि बसंत ऋतु आव नबेली । सो रस, सो मधुकर, सो बेली ॥
जिनि अस जीव करसि तू बारी । यह तरिबर पुनि उठिहि सँवारी ॥
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा । पुनि सोई सरवर, सोइ हंसा ॥

मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकस भेंटि अहंत ।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहंत ॥3॥

चढा असाढ, गगन घन गाजा । साजा बिरह दुंद दल बाजा ॥
धूम, साम, धीरे घन धाए । सेत धजा बग-पाँति देखाए ॥
खडग-बीजु चमकै चहुँ ओरा । बुंद-बान बरसहिं घन घोरा ॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी । कंत! उबारु मदन हौं घेरी ॥
दादुर मोर कोकिला, पीऊ । गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ ॥
पुष्प नखत सिर ऊपर आवा । हौं बिनु नाह, मँदिर को छाँवा ?॥
अद्रा लाग, लागि भुइँ लेई । मोहिं बिनु पिउ को आदर देई ?॥

जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब ।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब ॥4॥

सावन बरस मेह अति पानी । भरनि परी, हौं बिरह झुरानी ॥
लाग पुनरबसु पीउ न देखा । भइ बाउरि , कहँ कंत सरेखा ॥
रकत कै आँसु परहिं भुइँ टूटी । रेंगि चली जस बीरबहूटी ॥
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला । हरियारि भूमि, कुसुंभी चोला ॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा । बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥
बाट असूझ अथाह गँभीरी । जिउ बाउर, भा फिरै भँभीरी ॥
जग जल बूड जहाँ लगि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥

परबत समुद, अगम बिच, बीहड घन बनढाँख ।
किमि कै भेंटौं कंत तुम्ह ? ना मोहि पाँव न पाँख ॥5॥

भा भादों दूभर अति भारी । कैसे भौंर रैनि अँधियारी ॥
मंदिर सून पिउ अनतै बसा । सेज नागिनी फिरि फिरि डसा ॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी । नैन पसारि मरौं हिय फाटी ॥
चमक बीजु, घन गरजि तरासा । बिरह काल होइ जीउ गरासा ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरि । मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी ॥
धनि सूखै भरे भादौं माहाँ । अबहुँ न आएन्हि सीचेन्हि नाहाँ ॥
पुरबा लाग भूमि जल पूरी । आक जवास भई तस झूरी ॥

थल जल भरे अपूर सब, धरनि गगन मिलि एक ।
जनि जोबन अवगाह महँ दे बूडत ,पिउ ! टेक ॥6॥

लाग कुवार, नीर जग घटा । अबहूँ आउ, कंत! तन लटा ॥
तोहि देखे, पिउ ! पलुहै कया । उतरा चीतु, बहुरि करु मया ॥
चित्रा मित्र मीन कर आवा । पपिहा पीउ पुकारत पावा ॥
उआ अगस्त, हरित-घन गाजा । तुरय पलानि चढे रन राजा ॥
स्वाति-बूँद चातक मुख परे । समुद सीप मोती सब भरे ॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए । सारस कुरलहिं, खँजन देखाए ॥
भा परगास, काँस बन फूले । कंत न फिरे, बिदेसहि भूले ॥

बिरह-हस्ति तन सालै, घाय करै चित चूर ।
वेगि आइ, पिउ ! बाजहु, गाजहु होइ सदूर ॥7॥

कातिक सरद-चंद उजियारी । जग सीतल, हौं बिरहै जारी ॥
चौदह करा चाँद परगासा । जनहुँ जरैं सब धरति अकासा ॥
तम मन सेज करै अगिदाहू । सब कहँ चंद, खएउ मोहिं राहू ॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा । जौं घर नाहीं कंत पियारा ॥
अबहूँ, निठुर ! आउ एहि बारा । परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावैं अँग मोरी । हौं झुरावँ, बिछुरी मोरि जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा । मो कहँ बिरह, सवति दुख दूजा ॥

सखि मानैं तिउहार सब गाइ, देवारी खेलि ।
हौं का गावौं कंत बिनु, रही छार सिर मेलि ॥8॥

अगहन दिवस घटा, निसि बाढी । दुभर रैनि, जाइ किमि गाढी ? ॥
अब यहि बिरह दिवस भा राती । जरौं बिरह जस दीपक बाती ॥
काँपै हिया जनावै सीऊ । तौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचे सब काहू । मोर रूप-रँग लेइगा नाहू ॥
पलटि त बहुरा गा जो बिछोई । अबहुँ फिरै, फिरै रँग सोई ॥
वज्र-अगिनि बिरहिन हिय जारा । सुलुगि-सुलुगि दगधै होइ छारा ॥
यह दुख-दगध न जानै कंतू । जोबन जनम करै भसमंतू ॥

पिउ सौ कहेहु सँदेसडा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग ॥9॥

पूस जाड थर थर तन काँपा । सुरुज जाइ लंका-दिसि चाँपा ॥
बिरह बाढ, दारुन भा सीऊ । कँपि कँपि मरौं, लेइ हरि जीऊ ॥
कंत कहाँ लागौं ओहि हियरे । पंथ अपार, सूझ नहिं नियरे ॥
सौंर सपेती आवै जूडी । जानहु सेज हिवंचल बूडी ॥
चकई निसि बिछूरे दिन मिला । हौं दिन राति बिरह कोकिला ॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी । कैसे जियै बिछोही पखी ॥
बिरह सचान भएउ तन जाडा । जियत खाइ औ मुए न छाँडा ॥

रकत ढुरा माँसू गरा, हाड भएउ सब संख ।
धनि सारस होइ ररि मुई, पाउ समेटहि पंख ॥10॥

लागेउ माघ, परै अब पाला । बिरह काल भएउ जड काला ॥
पहल पहल तन रूई झाँपै । हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु, रे नाहा । तोहि बिनु जाड न छूटै माहा ॥
एहि माह उपजै रसमूलू । तू सो भौंर, मोर जोबन फूलू ॥
नैन चुवहिं जस महवट नीरू । तोहि बिनु अंग लाग सर-चीरू ॥
टप टप बूँद परहिं जस ओला । बिरह पवन होइ मारै झोला ॥
केहि क सिंगार, कौ पहिरु पटोरा । गीउ न हार, रही होइ डोरा ॥

तुम बिनु कापै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल ।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उढावा झोल ॥11॥

फागुन पवन झकोरा बहा । चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा ॥
तन जस पियर पात भा मोरा । तेहि पर बिरह देइ झकझोरा ॥
तरिवर झरहि झरहिं बन ढाखा । भइ ओनंत फूलि फरि साखा ॥
करहिं बनसपति हिये हुलासू । मो कहँ भा जग दून उदासू ॥
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी । मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी ॥
जौ पै पीउ जरत अस पावा । जरत-मरत मोहिं रोष न आवा ॥
राति-दिवस सब यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कंत अब तोरे ॥

यह तन जारों छार कै, कहौं कि `पवन ! उडाव' ।
मकु तेहि मारग उडि परै कंत धरै जहँ पाव ॥12॥

चैत बसंता होइ धमारी । मोहिं लेखे संसार उजारी ॥
पंचम बिरह पंच सर मारे । रकत रोइ सगरौं बन ढारै ॥
बूडि उठे सब तरिवर-पाता । भीजि मजीठ, टेसु बन राता ॥
बौरे आम फरैं अब लागै । अबहुँ आउ घर, कंत सभागे ! ॥
सहस भाव फूलीं बनसपती । मधुकर घूमहिं सँवरि मालती ॥

मोकहँ फूल भए सब काँटे । दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे ॥
फिर जोबन भए नारँग साखा । सुआ-बिरह अब जाइ न राखा ॥

घिरिन परेवा होइ, पिउ ! आउ बेगि ,परु टूटि ।
नारि पराए हाथ है, तोह बिनु पाव न छूटि ॥13॥

भा बैसाख तपनि अति लागी । चोआ चीर चंदन भा आगि ॥
सूरुज जरत हिवंचल तअका । बिरह -बजागि सौंह रथ हाँका ॥
जरत बजागिनि करु, पिउ ! छाहाँ । आइ बुझाउ, अँगारन्ह माहाँ ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी । आइ आगि तें करु फुलवारी ॥
लागिउँ जरै, जरै जस भारू । फिर फिर भूंजेसि, तजेउँ न बारू ॥
सरवर-हिया घटत निति जाई । टूक-टूक होइ कै बिहराई ॥
बिहरत हिया करहु, पिउ ! टेका । दीठी-दवँगरा मेरवहु एका ॥

कँवल जो मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ ।
कवहुँ बेलि फिरि पलुहै जौ पिउ सींचै आइ ॥14॥

जेठ जरै जग चलै लुवारा । उठहि बवंडर परहिं अँगारा ॥
बिरह गाजि हनुवंत होइ जागा । लंका-दाह करै तनु लागा ॥
चारिहु पवन झकोरे आगी । लंका दाहि पलंका लागी ॥
दहि भइ साम नदी कालिंदी । बिरह क आगि कठिन अति मंदी ॥
उठै आगि औ आवै आँधी । नैन न सूझ, मरौ दु:ख-बाँधी ॥

अधजर भइउ, माँसु तनु सूखा । लागेउ बिरह काल होइ भूखा ॥
माँसु खाइ सब हाडन्ह लागै । अबहुँ आउ; आवत सुनि भागै ॥

गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि सहि न सकहिं वह आगि ।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि ॥15॥

तपै लागि अब जेठ-असाढी । मोहि पिउबिनु छाजनि भइ गाढी ॥
तन तिनउर भा, झूरौं खरी । भइ बरखा, दुख आगरि जरी ॥
बंध नाहिं औ कंध न कोई । बात न आव कहौं का रोई ?॥
साँठि नाहिं,जग बात को पूछा ?। बिनु जिउ फिरै मूँज-तनु छूँछा ॥
भइ दुहेली टेक बिहूनी । थाँभ नाहि उठि सकै न थूनी ॥
बरसै मेह, चुवहिं नैनाहा । छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥
कोरौं कहाँ ठाट नव साजा ?। तुम बिनु कंत न छाजन छाजा ॥

अबहूँ मया-दिस्ट करि, नाह निठुर ! घर आउ ।
मँदिर उजार होत है, नव कै आई बसाउ ॥16॥

रोइ गँवाए बारह मासा । सहस सहस दुख एक एक साँसा ॥
तिल तिल बरख बरख परि जाई । पहर पहर जुग जुग न सेराई ॥
सो नहिं आवै रूप मुरारी । जासौं पाव सोहाग सुनारी ॥
साँझ भए झुरु झुरि पथ हेरा । कौनि सो घरी करै पिउ फेरा ?॥
दहि कोइला भइ कंत सनेहा । तोला माँसु रही नहिं देहा ॥
रकत न रहा, बिरह तन गरा । रती रती होइ नैनन्ह ढरा ॥
पाय लागि जोरै धनि हाथा । जारा नेह, जुडावहु, नाथा ॥

बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झंखि ।
मानुष घर घर बझि कै, बूझै निसरी पंखि ॥17॥

भई पुछार, लीन्ह बनवासू । बैरिनि सवति दीन्ह चिलवाँसू ॥
होइ खर बान बिरह तनु लागा । जौ पिउ आवै उडहि तौ कागा ॥
हारिल भई पंथ मैं सेवा । अब तहँ पठवौं कौन परेवा ?॥
धौरी पंडुक कहु पिउ नाऊँ । जौं चित रोख न दूसर ठाऊँ ॥
जाहि बया होइ पिउ कँठ लवा । करै मेराव सोइ गौरवा ॥

कोइल भई पुकारति रही । महरि पुकारै `लेइ लेइ दही'
पेड तिलोरी औ जल हंसा । हिरदय पैठि बिरह कटनंसा ॥

जेहि पखी के निअर होइ कहै बिरह कै बात ।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ॥18॥

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रकत-आँसु घुँघुची बन बोई ॥
भइ करमुखी नैन तन राती । को सेराव ? बिरहा-दुख ताती ॥
जहँ जहँ ठाढि होइ वनबासी । तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी ॥

बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ । गुंजा गूँजि करै `पिउ पीऊ '॥
तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बुडि उठे होइ राते ॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू । परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥
दैखौं जहाँ होइ सोइ राता । जहाँ सो रतन कहै को बाता ? ॥

नहिं पावस ओहि देसरा:नहिं हेवंत बसंत ।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ॥19॥

---

(1) पथ हेरा = रास्ता देखती है । नागर = नायक । बावँन करा = वामन रूप । छरा = छला । करन = राजा कर्ण । छंदू = छल-छंदू, धूर्त्तता । झिलमिल = कवच (सीकडों का) । अपसवा चल दिया । पींजर = पंजर, ठटरी ।

(2) बाउर = बावला । हरे हरे =धीरे धीरे । नारी = नाडी । चोला = शरीर,पहर । एक...बोला = इतना अस्पष्ट बोल निकालता है कि मतलब समझने में पहरों लग जाते हैं । हंस = हंस और जीव ।

(3) पाट महादेव = पट्ट महादेवी, पटरानी मेरावा = मिलाप । टेकु पियास = प्यास सह । बाँधु मन थीती = मन में स्थिरता बाँध । जिनि = मत । पलुहंत = पल्लवित होते हैं, पनपते हैं ।

(4) गाजा = गरजा । धूम = धूमले रंग के । धौरे = धवल, सफेद । ओनई = झुकी । लेई लागि = खेतों में लेवा लगा , खेत पानी से भर गए । गारौ = गौरव,अभिमान ।

(5) मेह = मेघ । भरनि परी = खेतों में भरनी लगी । सरेख = चतुर भँभीरी = एक प्रकार का पतिंगा जो संध्या के समय बरसात में आकाश में उडता दिखाई पडता है ।

(6)दूभर = भारी कठिन । भरौं = काटूँ, बिताऊँ; । अनतै = अन्यत्र । तरासा = डराता है ओरी = ओलती । पुरबा = एक नक्षत्र ।

(7) लटा = शिथिल हुआ । पलुहै = पनपती है । उतरा चीतु = चित्त से उतरी या भूली बात ध्यान में ला । चित्रा = एक नक्षत्र । तुरय = घोडा । पलानि = जीन कसकर । घाय = घाव । बाजु = लडो । गाजहु = गरजो । सदूर = शार्दूल, सिंह ।

(8) झुमक = मनोरा झूमक नाम का गीत । झुरावँ = सूखती हूँ । जनम = जीवन ।

(9) दूभर = भारी, कठिन । नाहू =नाथ । सो घनि विरहै ...लाग = अर्थात् वही धुआँ लगने के कारण मानों भौंरे और कौए काले हो गए ।

(10) लंका दिसि = दक्षिण दिशा को । चाँपा जाइ = दबा जाता है । कोकिला = जलकर कोयल (काली) हो गई । सचान = बाज । जाडा = जाडे में । ररि मुई = रटकर मर गई । पीउ ...पंख = प्रिय आकर अब पर समेटे ।

(11) जडकाला = जाडे के मौसिम में । माहा = माघ से । महवट = मघवट, माघ की झडी । चीरू = चीर, घाव । सर =बाण । झोला मारना = बात के प्रकोप से अंग का सुन्न हो जाना । केहि क सिंगार ? = किसका श्रृंगार ? कहाँ का श्रृंगार करना ? पटोरा = एक प्रकार का रेशमी कपडा । डोरा = क्षीण होकर डोरे के समान पतली । तिनउर = तनके का समूह । झोल = राख , भस्म;

(12) ओनत = झुकी हुई । निहोर लगौं = यह शरीर तुम्हारे निहोरे लग जाय, तुम्हारे काम आ जाय ।

(13) पंचम = कोकिल का स्वर या पंचम राग । सगरौं = सारे । बूडि उठे ...पाता = नए पत्तों में ललाई मानों रक्त में भीगने के कारण है । घिरिन परेवा = गिरहबाज कबूतर या कौडिल्ला पक्षी । नारि = नाडी, स्त्री ।

(14) हिंवचल ताका = उत्तरायण हुआ । बिरह-बजागि...हाँका = सूर्य तो सामने से हटकर उत्तर की ओर खिसका हुआ चलता है, उसके स्थान पर विरहाग्नि ने सीधे मेरी ओर रथ हाँका भारू =भाड । सरवर-हिया ....तालों का पानी जब सूखने लगता हथ तब पानी सूखे हुए स्थान में बहुत सी दरारें पड जाती हैं जिससे बहुत से खाने कटे दिखाई पडते हैं । दवँगरा = वर्षा के आरम्भ की झडी । मेरवहु एका = दरारें पडने के कारण जो खंड खंड हो गए हैं उन्हें मिलाकर फिर एक कर दो । बडी सुंदर उक्ति है ।

(15) लुवार = लू । गाजि = गरज कर । पलंका = पलंग । मंदी = धीरे धीरे जलाने वाली ।

(16) तिनउर = तिनको का ठाट । झूरौं = सूखती हूँ । बंध = ठाट बाँधने के लिये रस्सी । कंध न कोई = अपने ऊपर भी कोई नहीं है । साँठि नाठि = पूँजी नष्ट हुई । मूँज तनु छूँछा = बिना बंधन की मूँज के ऐसा शरीर । थाँम = खंभा । थूनी = लकडी की टेक । छपर छपर = तराबोर । कोरौं = छाजन की ठाट में लगे बाँस या लकडी । नव कै = नए सिर से

(17) सहस सहस साँस = एक एक दीर्घ निश्वास सहस्त्रों दुखों से भरा था, फिर बारह महीने कितने दु:खों से भरे बीते होंगे । तिल तिल....परि जाई = तिल भर समय एक एक वर्ष के इतना पड जाता है । सेराई = समाप्त होता है । सोहाग = सौभाग्य, सोहागा । सुनारी = वह स्त्री , सुनारिन । झुरि = सूखकर ।

(18) पुछार = पूछनेवाली, मयूर । चिलवाँस = चिडिया फँसाने का एक फंदा । कागा = स्त्रियाँ बैठै कौवे को देखकर कहती हैं कि ` प्रिय आता हो तो उड जा' । हारिल थकी हुई, एक पक्षी । धौरी = सफेद, एक चिडिया । पंडुक = पीली , एक चिडिया । चित रोख = हृदय में रोष, एक पक्षी । जाहि बया = सँदेश लेकर जा और फिर आ । कँठलवा = गले में लगानेवाला । गौरवा = गौरवयुक्त, बडा; गौरा पक्षी । दही = दधि, जलाई । पेड = पेड पर । जल = जल में ।तिलोरी = तेलिया मैना । कटनंसा = काटता और नष्ट करता है, (ख) कटनास या नीलकंठ । निपात = पत्रहीन ।

(19) घुँघची = गुंजा । सेराव = ठंडा करे । बिंब = बिंबाफल ।

Ecological sufism concepts in the thought of Seyyed Hossein Nasr

Ahmad Sururi
and Arqom Kuswanjono[1]

Seyyed Hossein Nasr, one of the Islamic thinkers who have a serious concern and deep concern over the occurrence of the ecological crisis. Forest destruction, pollution, water, and air are clear examples that can be seen in life today. According to him, the root of the problem lies in humans as actors, who have lost their sense of awe and concern for themselves and the universe. Such a state is the result of eroding the awareness of the holy. So that for him the ecological crisis is the result of a spiritual crisis. Therefore, the question arises, what is Nasr's attitude about the ecological crisis and his spirituality? How is the concept of ecological Sufism in his thinking? By examining his thoughts, and his works, researchers analyze with a philosophical approach to answer these problems. This study states, as a result of its findings, that the concept of ecological Sufism is the relationship between Sufism and ecological values by looking at problems in the environmental crisis. Awareness of Sufism - spirituality has an important role in addressing the ecological crisis. The concept of ecological Sufism is an alternative thought to answer the problem of the ecological crisis and the spiritual crisis in modern humans.

The Life History of Seyyed Hossein Nasr and His Thought

Seyyed Hossein Nasr was born on April 7, 1933, in Tehran Iran. He grew and developed in a respectable family and a family that paid great attention to education and science. His father, Seyyed Valiallah, was a scholar, doctor, educator, and literary scholar. Seyyed Valiallah also served as minister of education in the cabinet of the Reza Pahlevi government, and like his grandfather's previous work, his father Seyyed Valillah was a doctor of the Iranian royal family. Nasr also has Sufi blood from his mother. Since childhood, Nasr had planted a vast and rich intellectual heritage that was typical of Persia in his family. Nasr's formal education was pursued in Tehran and Qum according to the Persian curriculum. Nasr received lessons in philosophy, the science of kalam, Sufism, and fiqh (Esposito, 1995: 230). Apart from that, Nasr also studied Islamic sciences and Christianity at home, as well as additional lessons, French. Nasr was also very familiar with the poems of leading poets, such as Sa'di and Hafiz.

At the age of 12, Nasr began to have frequent discussions with his father on philosophical and theological issues, mainly because he had access to a lot of literature. Frequently discussing various problems with his father was quite influential in shaping Nasr's character and intellectuality. Then, Nasr went to the United States to improve his knowledge by studying English, science, American history, Western culture, and Christianity at The Paddie school, Hightstown New Jersey for four years and graduated in 1950. In 1956 Nasr earned a Master's degree at the Massachusetts Institute of Technology (MIT) in geology with a focus on geophysics.

His dissertation was entitled Conceptions of Nature in Islamic Thought, which was published by Harvard University Press in 1964 with the title "An Introduction to Islamic Cosmological Doctrines" Nasr received his Philosophy of Doctor (Ph.D.) degree at the young age of 25.

After completing his education in the United States, Nasr chose to return to Iran. Then exactly five years later, at the age of 30, Nasr got the position of Associate Professor in philosophy and history of science at the Faculty of Letters, University of Tehran. Nasr became the youngest professor at the university. From 1969 - 1972, Nasr served as dean of the faculty, as well as assistant chancellor in academics. At his university, Nasr developed humanities and philosophy programs. After serving as dean, in 1972, Nasr was appointed by the Shah of Iran to become the leader of Arymehr to develop to be like MIT based on Iranian cultural roots. As a program, Nasr initiated the study of philosophy based on Islamic philosophy. One year later, Nasr was appointed by the Queen of Iran to head a center for philosophical studies known as the Imperial Iranian Philosophy Academy.

An important part of Nasr's life journey, upon his return to Iran in 1958, was to continue learning about Islamic philosophy directly from his teachers such as Muhammad Kazim Assar, Muhammad Husayn Thabathaba'i, and Abu al - Hasan Qazwini. Through these teachers, Na s r received references to the classical books he read, such as Al - Asfarul Arbaa'ah by Mulla Sadra, and Syarahi Manumah, by Sabziwari, thereby increasing his knowledge of his reading of these books. When the Iranian revolution occurred, Nasr and his family were forced to move to the United States, this move was caused by Iranian revolutionaries who strongly opposed the Shah, while Nasr himself had worked as the head of a research institute financed by the Shah's government during his time in power.

Nasr's life and intellectual journey illustrate the ideal Muslim intellectuals and intellectual figure, which is to combine both the Eastern and Western educational traditions so that Nasr has the authority to discuss the contact between East and West as well as tradition and modernity. Nasr provided his knowledge by writing many books that were so critical and sharp. Nasr's works are usually in Persian and English, often in French and Arabic. Nasr's book, entitled An Introduction to Islamic Cosmological Doctrines, is a book that originates from his dissertation by presenting a critical edition of the philosophical thinkers Khwan al - Shafa, al - Biruni, and Ibn Sina. Nasr also wrote the book "Three Muslim Sages" a book derived from three lectures delivered by Nasr in his capacity as a visiting professor at Harvard University's Center for World Religious Studies (1962).

Nasr also wrote a book entitled Science and Civilization in Islam, an article that started when Nasr was still studying at Harvard. Another Nasr book is entitled Ideal and Realities of Islam, a book drawn from the first six of fifteen lectures Nasr gave at the American University in Beirut (1964 -1965) as Aga Khan's professor of Islamic studies. At the same time, Nasr also produced a work entitled Islamic Studies, which is a book containing fundamental aspects of the Islamic tradition, which was later developed into Islamic Life and Thought.

Furthermore, Nasr also wrote a book entitled Man and Nature: The Crisis of Modern Man (1968), this book is Nasr's first book to show his attention to the spiritual crisis of modern humans. This book presents predictions of environmental damage at that time due to the environmental crisis. In its initial edition the book was entitled The Encounter of Man and Nature : The Spiritual Crisis of Modern Man. After the book was published the next book entitled, Islam and The Plight of Modern Man, Sufi Essays or Living Sufism (1980).

Then the book entitled The Transcendent Theosophy of Sadral - Din Shirazi. Nasr was also involved in the project to compile the Encyclopedia of World Spirituality (1989), with Ewert Couins, Nasr became the editor and filled volume 19 - 20 with writings on Islamic Spirituality. Subsequently, in 1994, Nasr was invited to give a Cadbury lecture at the University of Birmingham, the paper he delivered was later published in a book entitled Religion and The Order of Nature. Continuing in 1995, Nasr with Oliver Leaman, edited and published a book entitled History of Islamic Philosophy, this book contains articles on Islamic philosophy written by leading scholars of Islamic and Jewish philosophy in the world. There are still many other Nasr books that the researchers did not include in this writing, such as those contained in speech papers and other international journals.

Furthermore, mapping Nasr's thoughts, as a great thinker, Nasr certainly did not build his thoughts at the same time, but through step by step until his position was established as the leading Muslim intellectual in the world. Basically Nasr's flow of thought can be analyzed into two groups of fields of study, which are the agenda of his thoughts, namely, firstly Nasr's view of the history and philosophy of science, with a focus on criticism of modern science. both the study of world religions, and a view on Islamic studies that focuses on philosophy, Sufism, and Islamic science and art. Of the two groups, basically to facilitate the mapping of Nasr's thoughts with a very strict division. Here is a map of Nasr's mind.

First, Nasr's critique of modern science. His criticism of modern science is basically the starting point of his concern for various ecological damage that threatens the continuity of human life on earth. This problem is rooted in sins and technology as its application. For Nasr, science has stepped out of its proper role, function and application, so that it has had a tremendous negative impact. All of this, as a result of the breaking up of science and technology with knowledge at a higher level as its parent, as well as the destruction of the value and spiritual nature of nature.

Apart from having an impact on ecology, modern science also has an impact on human crises. As a result, human relations are cut off from a higher reality, humans do not understand who they really are (the self). Modern humans have a higher consciousness, so that the view of humans only focuses on the physical dimension. The paradigm of modern science is a problem for Nasr, because it has caused massive desacralization of nature.

Moreover, in its development, modern science has transformed into scientism, which is a new belief that is considered absolute and rejects other truths. For Nasr, science with his method is expected not to give up the basic view of nature by continuing to work through the umbrella of traditional metaphysics, so that the spiritual meaning of nature can be read. So that nature can be seen properly and the knowledge obtained by humans is not for mastering, but for interaction and communication, which will produce wisdom.

Ecological Sufism in Thought Seyyed Hossein Nasr

Sufism was at the heart of Nasr's thought which spread and influenced his thinking in other fields, and colored his studies on various problems. Sufism is an esoteric dimension of Islam, which in Western terms is equated with mysticism (Nasr, 1996: 459). The mapping of this study in the world of Sufism is to distinguish between Sufism that comes from the Qur'an and hadith, with Sufism which presents philosophical explanations. A figure like al - Ghazali represents a figure representing Sunni Sufism, while Ibn 'Arabi is a figure in the philosophical Sufism school. In the field of Sufis, Nasr is also known to unite practical Sufis and theoretical Sufis. These practical sufisms are the practical methods used in the sufistic wanderings. Meanwhile, theoretical Sufism are theoretical explanations of the teachings related to Sufism.

As mentioned above, Nasr's Sufism holds on to the Qur'an as its foundation. His statement which clearly states that no spirituality is possible without being in line with the aims of the Qur'an. Because, the al - Qur'an is what teaches humans about something that can be done and becomes a guide towards the goal of its creation. So it is very clear that there is no Sufism that is not based on the Koran or apart from Islam. According to Nasr, Sufism aims to free humans from the prison of pluralistic pseudo - reality, cleanse them from hypocrisy, and make them become whole, so that they become holy as they were originally created (fitrah). a person who succeeds in achieving this goal will become a universal human being (al-insan al-kamil).

Humans have the potential to achieve it and reunite with the origin, because he is the most perfect and complete manifestation of God. The unification of oneself and awareness of the unity of all the various realities is the realization of the teachings of tawheed which is the ultimate message of Islam. This position can be achieved, if humans can penetrate the esoteric dimension of religion through a bridge of religious practices and doctrines. The linking of Sufism to ecological problems occurs, because in Sufism there are very constructive aspects to the wisdom of Sufis on ecological salvation. The expansion of the capacity of Sufism in ecological issue s is something fundamental, considering that as already mentioned above, the environmental damage that is currently occurring is already at a dangerous level, where almost all components of the environment, both the natural environment, the social environment and the cultural environment have been degraded, which is worrying.

The damage that occurred was mostly caused by human hands, who exploited natural resources excessively. If the concern for ecology on the basis of Sufism is able to answer the problem of the environmental crisis. Sufism is not only understood as "serving" God, but its application should be expanded into a Sufism teaching that cares for the environment. This does not mean that the environment (nature) is divine pantheism, but Sufism must be returned to its original function, namely as a balance (tawazun) between material and spiritual life. It is a rule for building the ideal relationship between man and God and the environment around him. Sufism is not only fulfilling spiritual needs, but more than that it is able to produce results (applicative) for the rescue and protection of the earth where humans live today.

Therefore, ecological spirituality based on Sufism becomes an option to address environmental damage that requires intuitive awareness and plural spiritual faith from all walks of life. There are several important concepts to build an understanding of ecological sufism according to Nasr's view, which is then expected to provide a good view of the relationship between humans and the environment in relation to natural balance, which of course will also create an ethical value for a sufistic environment.

This understanding is based on the principles of ecological sufism, as follows:

1. Relationship between God, Man and Nature in the Sufi tradition, the discourse about God and nature is a hot topic of discussion. There are at least four theories about the occurrence of nature, namely: 1) illumination theory (Isyraqi), 2) manifestation theory (tajalli), 3) muta'alliyah wisdom theory, and 4) al-Ghazali atomistic theory.

The first is the theory of illumination (Isyraqi), a theory coined by Suhrawardi. This theory is categorized under Sufism because according to him, it is necessary to show the truth that lies in the heart as revealed by God. The principle of Isyraqiyah philosophy is to get the truth through intuitive experience, then elaborate and verify it logically rationally, in other words, knowing is the same as gaining an experience, a direct - intuition of what is known. Only after being reached in a total, intuitive, and immediate manner, this knowledge is analyzed, namely discursively. This theory says that God is light, as the only true reality. Nature according to this theory is emanating from God. God's light is radiating…The fact that nature is in front of humans shows that God must exist from the beginning.

Second, the theory of manifestation (tajalli) is widely known as wahdatul wujud. This tajalli theory is a theory from Ibn 'Arabi which he uses to refer to the self - manifestation of God. Thus, man is the most perfect form of God, because he is a microcosm that collects all the essence of being, a microcosm where all the perfection of the macrocosm is reflected in the mirror of his being. The various realms are manifestations of one entity. The analogy of the relationship between nature and existence is depicted by means of a “face” with a “picture” of the face in several mirrors. That one face can be reflected through a thousand and one mirrors. The “perfect” mirror that can represent the “face” of God as a whole is a perfect human (insan kamil).

Third, the theory of al - Hikmah al - Muta'alliyah was conceptualized by Mulla Sadra. Basically, Mulla Sadra never named his school of thought al - Hikmah al - Muta'alliyah, the mention of al - Hikmah al - Muta'alliyah as a philosophical school was first introduced by 'Abd al - Razzak Lahiji (d. 1072 H / 161 AD) , student and son - in - law at the s am e time. The figure who was very enthusiastic about explaining the reason for using this erm as the name for Mulla Sadra's school of philosophy was Mulla Hadi Sabzawari (1212 - 1295 H / 1779 - 1878 AD), a Persian philosopher and mystic in the 13th / 19th century AD. The interesting concept of Sadra is related to the concept of being. For him, being is transformed. In Sadra's term it is known as al -harâkah al-jawhariyyah (substantial movement). Namely the impermanence of an existence (appearing) or being, in the hierarchy of being. In a different expression, it means the strengthening or weakening of the intensity of "being" (form or existence) being.

Fourth, al-Ghazali's theory says that everything other than Allah (Maa siwa Allah) is new and created. Meanwhile, the nature of God is qadim first, existed long ago, not new. Nature is a product of God. Meanwhile, Allah is the essence and cause of the existing nature. This illustrates that al - Ghazali understands this nature atomistically (not monistically) with God. Al-Ghazali also criticized the opinion of previous philosophers, that nature is eternal in the sense that it has no beginning, for him God is the creator, which means to create something from nothing (creatio ex nihilo). If nature (in the sense that everything that exists apart from God) is said to have no origin, then nature was not created and thus God is not the creator. According to him, in the Koran, it is stated that God is the Creator of everything. According to al-Ghazali in Islamic theology, he does not embrace the notion that nature does not begin. Based on the four theories about God, nature, and humans, and the relationship between nature and God in Sufism is very unique.

The theories above indicate that nature is holy because it comes from a holy Essence. Likewise with the concept of al-Ghazali, nature is a product of God. Damaging a product is the same as damaging the manufacturer. In the context of the environment, destroying the environment is the same as moving away from God. This concept has the potential to be used as a basis for building environmental spirituality based on Sufism. Because seeing God as the center while nature and humans are manifestations of God's attributes. This means that human nature is an integral part of nature, while the universe is a reflection of God's power. So in this context, taking steps to make peace and live in harmony with nature is the best way. According to Nasr, there can be no peace between humans unless there is peace and harmony with nature. In order for all this to happen, then hum an s must be in harmony and be in harmony with the heavens, with the source and origin of all creatures. Whoever is at peace with God, he will also be at peace with His creation, with nature and with humans (Nasr. 2005: 163)

Conclusion

The issue of environmental damage is already complex and heavy. Humans are too ignorant if they are supposed to reap the benefits in a sustainable manner which means that humans must maintain a harmonious relationship with nature and the environment. There is an extreme contradiction between human nature and nature: human beings have the nature to dominate and this quality is inherent, while nature is possessed and will be exhausted if not managed humanely. Human activities affect their environment and conversely human life is influenced by their environment.

If humans are only concerned with their needs without paying attention to the natural balance contained in their environment, naturally nature will no longer be part of an ecosystem that can prosper life, and on the contrary nature will become a disaster. Awareness of human nature and natural nature should be an ideological foothold for humans. Developed countries that have long injured nature and the environment should take a big share in the restoration of the environment. This is where, in the opinion of the researcher, the concept of ecological sufism in Nasr's view becomes important, especially since the sufistic value is related to ecological issues, not only in individual values, but also into communal values, this is really a solution offering to build a sustainable society, at the national level. and globally, namely a sustainable society that builds and manages its life together based on awareness of the importance of the environment.

The conceptualization of ecological Sufism values is rooted in an ecological spirituality that is based on Sufism values and is connected to answer the problematic realities of today's environmental crisis. The concept of ecological Sufism emphasizes the harmony between God, humans, and nature. Therefore, Seyyed Hossein Nasr's ecological Sufism thought needs to be implemented in people's lives as a view of life that has values and can be an alternative thought in addressing environmental problems.

[1] Research, Society and Development, v. 9, n.10, e 576910861, 2020

Benares Series Kabirdas | A creative Puppet Theater Production

Click here to watch the video

Benares Series Ravidas | A creative Puppet Theater Production

Click here to watch the video

Ṣūfī-Saints series Zoom Sessions links

1. Sufi Sant Series Guru Nanak
2. Sufi Sant Series Meera Bai
3. Sufi Sant Series Baba Fareed
4. Sufi Sant Series Lal Ded
5. Sufi Sant Series Habba Khatoon
6. Akka Mahadevi
7. Sufi Sant Series Baba Bulle Shah
8. Narsi Mehta
9. Shrimant Shankar Dev
10. Kabir part-1
11. Kabir Part-2
12. Kabir part-3
13. Rabiya Al Basri
14. Raidas Part-1
15. Raidas Part-2
16. Sant Janabai
17. ChokhaMedha
18. Sant Paltu Das Part-1
19. Sant Paltu Das Part-2
20. Amir Khusro Part-1
21. Amir khusro Part-2

Follow us:

Website: https://rgfindia.org/

FB: @rgf

YouTube: @RGF

Image Courtesy: Freepik